क उपक्रम में सप्तखण्डचतुष्टयात्मक 'मार्ब्रविज्ञान' नामक ग्रन्थ के दो खण्ड प्रकाशित कराए थे। एवं आप ही के द्वारा दोनों खण्डों की अनुमानत १० –२०० प्रतियाँ देश–विदेश के सुप्रसिद्ध मार्म्मिक तत्त्वज्ञ विद्वानों को उपहारस्वरूप भेजी गई थीं। उनमें से सामान्यरूप से एतद्देशीय मूर्द्ध एक विद्वानों के तथा विशेषरूप से जापान–इटली–जर्मनी–आदि के वैदिक विद्वानों के भिन्न भिन्न विचारविमर्श हमें सम्मति के रूप से यथासमय उपलब्ध हुए। एतद्देशीय विद्वानों में से प्रकृत में हम विहार के राज्यपाल माननीय श्री दिवाकर महोदय के पत्र की ओर अपने पाठकों का ध्यान इसलिए विशेषरूप से आकर्षित करना चाहते हैं कि, आपने सम्भवतः ग्रन्थनामों में उद्धृत 'विज्ञान' शब्द को ही लक्ष्य बना कर ऐसी जिज्ञासा अभिव्यक्त की थी कि–"विज्ञान' शब्द से हमारा क्या तात्पर्य्य है" । इसी प्रकार प्रचारानुबन्धिनी अपनी विगत प्रवास यात्राओं में भी अनेक श्रोताओं के द्वारा 'विज्ञान' शब्द के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के ऊहापोह अनुभूत होते रहे हैं। इसी प्रसङ्ग में 'राजस्थान वैदिकतत्त्वशोधसंस्थानमानवाश्रम' के मन्त्री स्वनामधन्य सुप्रसिद्ध उत्कलनिष्ठ माननीय डॉ० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल महाभाग ने गतवर्ष मानवाश्रम में विपरित होने वाले वैदिकतत्त्वानुगत प्रश्नोत्तरविमर्श के प्रसङ्ग में माननीय राज्यपाल महाभाग के पूर्वनिर्दिष्ट पत्र का सङ्केत करते हुए हमारे सम्मुख 'विज्ञान' शब्द के समन्वय की जिज्ञासा अभिव्यक्त की थी, जो तत्सम ही रेकार्ड कर ली गई थी। उसी प्रश्नोत्तरविमर्शात्मिका वार्त्ता का संक्षिप्त स्वरूप यहाँ भी इसलिए उद्धृत कर दिया जाता है कि, अवश्य ही तन्माध्यम से सर्वात्मना नहीं तो अंशतः 'विज्ञान' शब्द से सम्बन्ध रखने वाले भारतीय दृष्टिकोण का समन्वय सम्भव बन सकेगा।

'गतानुगतिको लोकः, न लोकः पारमार्थिकः' यह सुप्रसिद्ध आभाणक वर्त्तमान भारतीय भावुकप्रजा के सम्बन्ध में जैसा जिस रूप में अक्षरशः घटित हुआ है, वैसा अन्य वर्गों के साथ नहीं। प्रत्यक्षप्रमाणास्वादक मात्र वाक्पटियों से क्षणमात्र में प्रभावित हो पड़ने वाला आज का नितान्त भावुक भारतीय मानस अपनी सनातन-धारानिष्ठा को क्षणमात्र में ही विस्मृत कर देने की अपूर्व क्षमता ? से समन्वित है। इस निष्ठानुगत स्वस्वरूप के परिज्ञान का अभाव ही इसकी दुर्व्यमूला भावुकता का एकमात्र प्रमुख कारण है। प्रतीच्य भौतिक विज्ञानक्षेत्र के सम्बन्ध में भी इसने इसी परम्परयपनेय मूला भावुकता का अनुगमन कर लिया है। और तत्परिणामस्वरूप कुछ समय से इसकी ऐसी धारणा बन चली है कि 'जब तक हम अपने प्राच्य-विधि विधानों को वर्त्तमान प्रतीच्य विज्ञान के विधि-विधानों से समनुमित नहीं बना लेंगे तब तक हमारा प्राच्य गौरव कदापि सुर क्षत न रह सकेगा'। एकमात्र इसी व्यामोहन से आग्रह-व्यासक्तमना बनते हुए आज के कतिपय भारतीय विद्वान् 'विज्ञान शब्द' के माध्यम से अपने प्राच्य शास्त्रों की व्याख्याओं में प्रवृत्त होते जा रहे हैं। वर्त्तमान भूतविज्ञान की कृपा से समुद्भूत आज के विविध प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कारों के सम्बन्ध में यत्र तत्र प्राच्य-भारतीय विद्वानों के मुख से भी ऐसा भूतोपमृत है कि-'इन सब विज्ञानों का मूल तो हमारे शास्त्रों में पहिले से ही विद्यमान है'। कहना न होगा कि इसी विज्ञानावरण से अभिनिविष्ट कतिपय भारतीय विद्वान् आज इस दिशा में सर्वथा उपहासास्पद अनाप्त असम्बद्ध विचार ही अभिव्यक्त करते रहते हैं। प्राच्य साहित्य में विशेषतः वैदिक साहित्य में इसप्रकार के भौतिक विज्ञानसूत्रों की सम्प्रयोगप्रवृत्ति का

इसलिए कदापि अभिनन्दन नहीं किया जा सकता कि इस अन्वपद प्रवृत्ति से वेदशास्त्र का प्रातिस्विक गौरव अभिभूत ही प्रमाणित हो जाता है। हाईड्रोजन-ऑक्सिजन-नाइट्रोजन-कार्बन-आदि आदि तत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रण से सम्बन्ध रखने वाले वर्त्तमान भौतिक आविष्कारों के माध्यम से कुछ वैसे ही भौतिक-आविष्कारों की कल्पना करते हुए कदापि वेदशास्त्र का महत्त्व प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। तार-टैलिफोन-रेडियो-वायुयान-आदि की कल्पना से तो वेदशास्त्र का गौरव सब या विलीन ही हो सकता है, हुआ है।

यद्यपि यह ठीक है कि किसी एक निश्चित सिद्धान्तबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर वर्त्तमान भौतिक विज्ञान के साथ भारतीय वैदिक विज्ञान का कोई विसंवाद शेष नहीं रह जाता। क्योंकि विज्ञान स्वयं अपने स्थान में एक वैसा निर्भ्रान्त सत्य सिद्धान्त है, जिसके सम्बन्ध में उसके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण में प्राच्य-प्रतीच्य का कोई विशेष सुरक्षित नहीं रह सकता। अपितु दोनों अन्ततोगत्वा एक ही सिद्धान्त पर समन्वित हो जाते हैं। यदि एक पश्चिम का विद्वान् किसी भौतिक विज्ञान-सिद्धान्त के द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है तो उसका यह निष्कर्ष कोई उसके घर की प्रातिस्विक सम्पत्ति नहीं है। अपितु विश्वव्यापक प्राकृतिक भूत-भौतिक पदार्थों के आधार पर ही वह किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। ठीक इसी प्रकार यदि एक भारतीय विद्वान् भी उन्हीं प्राकृतिक पदार्थों के अन्वेषण-माध्यम से यदि कभी निष्कर्ष का अनुगमन कर लेता है तो यह भी कोई उसका पैतृक दायाद नहीं बन जाता। और वों दोनों ही अन्वेषक निष्कर्षबिन्दु की अपेक्षा से किसी एक ही सनातन सत्य विज्ञान के समानोपासक मान लिए जा सकते हैं। तथापि

यदि केवल गतानुगतिकन्याय से प्रतीच्य विज्ञानवाद के तात्कालिक चाकचिक्य से प्रभावित होकर एक भाष्य विज्ञान उसी पद्धति के माध्यम से भारतीय वैदिक-विज्ञान के अन्वेषण में प्रवृत्त हो जाता है, तो वह सम्भवतः ही क्यों निश्चय ही अपने पर के विज्ञान शब्द के ठीक ठीक समन्वय करने में सर्वथा असमर्थ ही प्रमाणित हो सकता है।

भारतीय 'विज्ञान' शब्द के वास्तविक समन्वय के लिए उचित तो यह था कि भारतवर्ष की शुद्ध एक विशिष्ट प्रज्ञा सर्वप्रथम तो अनन्य-निष्ठा से अपने वैदिक साहित्य का अध्ययन करती तदनन्तर वर्त्तमान विज्ञान के क्षेत्र की योग्यता प्राप्त करती। एवं इन दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों के माध्यम से किसी निष्कर्ष पर पहुँचती हुई इस दिशा में प्रयत्नशील बनती। तब कहीं वह भारतीय 'विज्ञान' शब्द के तत्त्वार्थ का ठीक ठीक समन्वय कर सकती थी। यह सुनिश्चित है कि विज्ञान शब्द के सम्बन्ध में वर्त्तमान भूतदृष्टि की अपेक्षा से हम जो कुछ भी निवेदन करेंगे, वह इसलिए अधिकांश में भ्रान्त होगा कि वर्त्तमान भूतविज्ञान के वास्तविक परीक्षण से हम अणुमात्र भी सम्पर्क नहीं रखते। इस सम्बन्ध में हमारी केवल ऐसी मान्यता ही नहीं अपितु आस्था है कि, जिसे आज भौतिक विज्ञान कहा जाता है, उसके सैद्धान्तिक मूलसूत्र वर्त्ती रूप से ज्ञानविज्ञानप्रधान वेदशास्त्र में भी विद्यमान होने ही चाहिएँ। प्रश्न है प्राच्य-प्रतीच्य निबन्धन इन सैद्धान्तिक मूलसूत्रों के समसमन्वय का। किस रूप से किस पद्धति किंवा दृष्टि से प्राच्य वैदिक विज्ञानान्तर्गत भूतविज्ञान का प्रतीच्य भूतविज्ञान के साथ निर्वि-रोध समन्वय सम्भव बन सकता यह एक बहुत बड़ा कार्य है। अपने प्रकाशित अप्रकाशित ग्रन्थों में स्थान स्थान पर नियतरूप से जिन

इसलिए कदापि अभिमन्तव्य नहीं किया जा सकता कि इस अन्वेषण प्रवृत्ति से वेदशास्त्र का प्रातिस्विक गौरव अभिभूत ही प्रमाणित हो जाता है। हाईड्रोजन-ऑक्सिजन नाइट्रोजन-पवन-आदि आदि तत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रण से सम्बन्ध रखने वाले वर्त्तमान भौतिक आविष्कारों के माध्यम से इस वैसे ही भौतिक-आविष्कारों की कल्पना करते हुए कदापि वेदशास्त्र का महत्त्व प्रतिक्षिप्त नहीं किया जा सकता तार-टेलिफोन-रेडियो-वायुयान-आदि की कल्पना से तो वेदशास्त्र का गौरव सब का विलीन ही हो सकता है, हुआ है।

यद्यपि यह ठीक है कि, किसी एक निश्चित सिद्धान्तबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर वर्त्तमान भौतिक विज्ञान के साथ भारतीय वैदिक विज्ञान का कोई विसंवाद शेष नहीं रह जाता। क्योंकि विज्ञान तत्त्व अपने आप में एक वैसा निर्भ्रान्त सत्य सिद्धान्त है, जिसके सम्बन्ध में उसके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण में प्राच्य-प्रतीच्य का कोई विभेद सुरक्षित नहीं रह सकता। अपितु दोनों अन्योन्याश्रया एक ही सिद्धान्त पर समन्वित हो जाते हैं। यदि एक पश्चिम का विद्वान् किसी भौतिक विज्ञान-सिद्धान्त के द्वारा किन्हीं निष्कर्ष पर पहुँचता है तो उसका यह निष्कर्ष कोई उसके घर की प्रातिस्विक सम्पत्ति नहीं है। अपितु विश्वव्यापक प्राकृतिक भूत-भौतिक पदार्थों के आधार पर ही वह किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। ठीक इसी प्रकार यदि एक भारतीय विद्वान् भी उन्हीं प्राकृतिक पदार्थों के अन्वेषण-माध्यम से यदि उसी निष्कर्ष का अनुगमन कर लेता है, तो यह भी कोई उसका पैत्रिक दायाद नहीं बन जाता। और यों दोनों ही अन्वेषक निष्कर्षबिन्दु की अपेक्षा से किसी एक ही सनातन-सत्य विज्ञान के समन्वयोपासक मान लिए जा सकते हैं। तथापि

यदि केवल गतानुगतिकन्याय से प्रतीच्य विज्ञानवाद के तात्कालिक वाक्‌चिक्य से प्रभावित होकर एक प्राच्य विद्वान् उसी पद्धति के माध्यम से भारतीय वैदिक-विज्ञान के अन्वेषण में प्रवृत्त हो जाता है, तो वह सम्भवतः ही क्यों निश्चय ही अपने पर के 'विज्ञान' शब्द के ठीक ठीक समन्वय करने में सर्वथा असमर्थ ही प्रमाणित हो सकता है।

भारतीय विज्ञान शब्द के वास्तविक समन्वय के लिए उचित तो यह था कि भारतवर्ष की कुछ एक विशिष्ट प्रज्ञाएं सर्वप्रथम तो अनन्य-निष्ठा से अपने वैदिक साहित्य का अध्ययन करतीं तदनन्तर वर्तमान विज्ञान के क्षेत्र की योग्यता प्राप्त करतीं। एवं इन दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों के माध्यम से किसी निष्कर्ष पर पहुँचतीं हुई इस दिशा में प्रयत्नशील बनतीं। तब कहीं यह भारतीय 'विज्ञान' शब्द का तत्त्वाथ का ठीक ठीक समन्वय कर सकती था। यह सुनिश्चित है कि विज्ञान शब्द के सम्बन्ध में वर्तमान भूतदृष्टि की अपेक्षा से हम जो कुछ भी निवेदन करेंगे वह इसलिए अधिकांश में भ्रान्त होगा कि वर्तमान भूतविज्ञान के वास्तविक परीक्षण में हम अणुमात्र भी सम्पर्क नहीं रखते। इस सम्बन्ध में हमारी केवल ऐसी मान्यता ही नहीं अपितु आस्था है कि, जिसे आज भौतिक विज्ञान कहा जाता है उसके सैद्धान्तिक मूलसूत्र सर्वात्मना उस ज्ञानविज्ञानप्रधान वेदशास्त्र में भी विद्यमान होने ही चाहिएं। प्रश्न है मात्र :-प्रजाच्य-निगमन उन सैद्धान्तिक मूलसूत्रों के समसमन्वय का। किस रूप से किस पद्धति किंवा दृष्टि से प्राच्य वैदिक विज्ञानान्तर्गत भूतविज्ञान का प्रतीच्य भूतविज्ञान के साथ निर्वि-रोध समन्वय सम्भव बने सचमुच यह एक बहुत बड़ा कार्य्य है। अपने प्रकाशित अप्रकाशित ग्रन्थों में स्थान स्थान पर निदर्शनरूप से विज्ञ

इसलिए कदापि अभिनन्दन नहीं किया जा सकता कि इस भून्वपए प्रवृत्ति से वेदशास्त्र का प्रातिस्विक गौरव अभिभूत ही समाहित हो जाना है। हाईड्रोजन-ऑक्सिजन-नाइट्रोजन-कार्बन-आदि आदि तत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रण से सम्बन्ध रखने वाले वर्तमान भौतिक आविष्कारों के माध्यम से कुछ वैसे ही भौतिक-आविष्कारों की कल्पना करते हुए कदापि वेदशास्त्र का महत्त्व प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। तार-टेलिफोन-रेडियो-वायुयान आदि की कल्पना से तो वेदशास्त्र का गौरव लुप्त या विलीन ही हो सकता है, हुआ है।

यद्यपि यह ठीक है कि किसी एक निश्चित सिद्धान्तबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर वर्तमान भौतिक विज्ञान के साथ भारतीय वैदिक विज्ञान का कोई विसंवाद शेष नहीं रह जाता। क्योंकि विज्ञान स्वयं अपने आप में एक वैसा निर्भ्रान्त सत्य सिद्धान्त है, जिसके सम्बन्ध में उसके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण में प्राच्य-प्रतीच्य का कोई विभेद सुरक्षित नहीं रह सकता। अपितु दोनों अन्ततोगत्वा एक ही सिद्धान्त पर समन्वित हो जाते हैं। यदि एक पश्चिम का विद्वान् किसी भौतिक विज्ञान-सिद्धान्त के द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है तो उसका यह निष्कर्ष कोई उसका घर की प्रातिस्विक सम्पत्ति नहीं है। अपितु विश्वव्यापक प्राकृतिक भूत-भौतिक पदार्थों के आधार पर ही वह किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। ठीक इसी प्रकार यदि एक भारतीय विद्वान् भी उन्हीं प्राकृतिक पदार्थों के अन्वेषण-माध्यम से यदि उसी निष्कर्ष का अनुगमन कर लेता है तो यह भी कोई उसका पैतृक दायाद नहीं बन जाता। और यों दोनों ही अन्वेषक निष्कर्षबिन्दु की अपेक्षा से किसी एक ही सनातन सत्य विज्ञान के समानोपासक मान लिए जा सकते हैं। तथापि

शब्द के आधार पर ही तद्रहस्यान्वेषण में प्रवृत्त हो पड़ेगी। स्वयं 'हृदय' शब्द ही अपना सुगुप्त अर्थ प्रश्नकर्त्ता के सम्मुख समुपस्थित कर देगा। मूल शब्द है 'हृदयम्' अर्थात् नपुंसकलिङ्गान्त। ऐसे इस 'हृदयम्' शब्द में 'हृ-द-यम्' इन तीन अक्षरों का सन्निवेश स्पष्ट है। तीनों में आरम्भ का 'हृ' नामक प्रथम अक्षर किसी विशेष तत्त्व की ओर सङ्केत कर रहा है, 'द' नामक द्वितीय अक्षर किसी अन्य ही तत्त्व का संग्राहक बना हुआ है, एवं-'सहायैर्व्यञ्जनैः पूर्वैश्चावसितैः ०' इत्यादि प्रातिशाख्य सिद्धान्तानुसार व्यञ्जनसमन्वित 'यम्' नामक तृतीय अक्षर किसी तीसरे ही तत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। हरणार्थक किंवा आहरणार्थक 'हृञ् हरणे' नामक धातु से महर्षि-प्रज्ञा ने 'हृ' इस एकाक्षर का ग्रहण किया। खण्डनार्थक किंवा विसर्गात्मक 'दो अवखण्डने' नामक धातु से 'द' इस एकाक्षर का संग्रह किया। एवं 'यम्' यह तीसरा एकाक्षर नियमन भाव का किंवा स्तम्भन-भाव का संग्राहक मान लिया आचार्यों ने। इसप्रकार 'हृ' नामक प्रथमाक्षर का तात्पर्य माना गया आहरण किंवा आदान। 'द' नामक द्वितीयाक्षर का अर्थ हुआ खण्डन किंवा विसर्ग। एवं 'यम्' नामक तृतीयाक्षर का तात्पर्य हुआ नियमन-स्तम्भन किंवा स्थितिभाव। वस्तु का ग्रहण करने वाली शक्ति ही 'हृ' का अर्थ हुआ। जिस शक्ति के द्वारा जो वस्तु आदान हुई है, आई है-उसे परावर्त्तित कर देने वाली लौटा देने वाली शक्ति ही 'द' का अर्थ हुआ। एवं यह आहरणात्मक वस्त्वादान तथा खण्डनात्मक वस्तुविसर्ग, सहजसिद्ध ग्रहण और त्याग, लेना और देना, दोनों विरुद्ध शक्तियाँ जिस स्थिर बिन्दु पर नियमित रूप से व्यवस्थित बनी रहती हैं वह नियत बिन्दुसीमा वह उभयस्तम्भनसीमा

'विज्ञान' शब्द का हमनें प्रयोग किया है उसके साथ कहीं भी वर्त्तमान भूतविज्ञान के प्रति जानकारी रखने का हमारा अणुमात्र भी दम्भ नहीं है। दुर्भाग्य से, अथवा तो महासौभाग्य से प्रतीच्य भौतिक विज्ञान के स्थूल शरीर को अभिव्यक्त करने वाली इंगलिशभाषा का स्वाध्यिक सम्पर्क भी हमें प्राप्त नहीं हुआ है। अतएव तदूभाषानुप्राणित एवं तदूभाषनिबन्धन भूतविज्ञानात्मक प्रतीच्य 'विज्ञान शब्द के सम्बन्ध में हम सर्वथा निरक्षरमूर्धन्य ही बन हुए हैं। अतएव वक्तव्य के आरम्भ में ही हमें यह स्पष्ट कर ही देना चाहिए कि हमारा 'विज्ञान' शब्द वर्त्तमान भूतविज्ञानशब्द से सर्वथा ही असंस्पृष्ट है। भारतीय वेदशास्त्र सम्मत विशुद्ध प्राच्य दृष्टिकोण के आधार पर ही हमनें सर्वत्र 'विज्ञन' शब्द समन्वित माना है। इसी दृष्टि से गुरुदयानुग्रह से अभिप्रा गुरु कृपामात्र से जो कुछ जानने का प्रयास हुआ है, उस भारतीय वैदिक-पारिभाषिक 'विज्ञान' शब्द के अथसमन्वय के सम्बन्ध में ही किञ्चिदिव मिवेचन किया जारहा है।

हमारे यहाँ एक विशिष्ट शैली किंवा आर्ष-चिरन्तनपद्धति चल रही है कि जिस तत्त्वार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए जो शब्द नियत हुआ है स्वयं उस वाचक शब्द में ही तत्तद्वाच्य तत्त्व की रहस्यपूर्णा वैज्ञानिक व्याख्या निहित कर दी गई है। इत्थंभूता विशिष्टशैली के सम्बन्ध में उदाहरण के लिए सवप्रथम 'हृदय शब्द को ही हम आपके सम्मुख रख रहे हैं। 'हृदय शब्द का क्या अर्थ ? यदि भारतीय प्रजा से कोई यह प्रश्न करे, तो तत्समाधान के लिए इस प्रजा को न तो किसी कोश की ही शरण में जाना पड़ेगा न किसी भाष्य टीका-किंवा व्याख्या की ही इसे कोई अपेक्षा रहेगी। अपितु यह प्रजा स्वयं 'हृदय

रा होता है। अतएव इस विसर्गशक्ति के अधिष्ठाता इन्द्रात्मक रुद्रदे-
ता को सृष्टिसंहारक मान लिया गया है एवं नियमनात्मिका स्थिति से
ो वस्तुस्वरूप का आविर्भाव होता है, अतएव इस नियमनशक्ति के
धिष्ठाता प्रतिष्ठात्मक ब्रह्मदेव को सृष्टिकर्त्ता कह दिया गया है। विष्णु-
न्द्र-ब्रह्मा-इन तीन प्राकृतिक प्राणदेवताओं से अभिन्ना आगति-गति-
स्थिति-रूपा शक्तित्रयी ही इसप्रकार वस्तुस्वरूप की भाग्यविधात्री बन
ही है।

क्या तीनों शक्तियाँ परस्पर विभिन्न हैं ? । नहीं । अपितु एक ही
शक्ति की ये तीन विभिन्न अवस्थाएँ हैं जो कि शक्ति 'अव्यक्तप्रकृति'
कहलाई है। एवं जोकि अव्यक्तप्रकृति 'अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुस्तमाहु'
परमां गतिम्' इत्यादि गीतासिद्धान्त के अनुसार 'अक्षर' नामसे प्रसिद्ध
है। अक्षरात्मिका इसी अव्यक्ता प्रकृतिदेवी के अनुशासन से सम्पूर्ण
विश्व एवं सम्पूर्ण चर-अचर प्रजा-स्थावर-जङ्गम-प्रपञ्च सञ्चालित है
व्यवस्थित है जैसा कि-

'तस्य वा एतस्य-अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी
विधृते तिष्ठत-सूर्याचन्द्रमसौ-अहोरात्राणि-अर्धमासा-ऋतव'-
सम्वत्सरा विधृतास्तिष्ठन्ति' इत्यादि श्रौतश्रुति से संसिद्ध है।

गतिलक्षण क्रियालक्षण प्राण ही इस अक्षरप्रकृति की मौलिक
परिभाषा है। अतएव गतितत्त्व को ही 'अक्षर' कहा जाता है। एवं इसी
आधार पर सांख्यदर्शन का-'प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः'
यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। क्योंकि गतिलक्षणा क्रिया ही कर्त्री बना करती
है। विश्वकर्त्री यह गतिलक्षणा अक्षरप्रकृति अपने 'गति' भाव से एक-

ही तीसरी शक्ति मानी गई, एवं यही साङ्केतिकरूप से 'यम्' नाम से प्रसिद्ध हुई। और यों 'हृ' अक्षर आदानरूपा आगति का 'द' अक्षर विसर्गरूपा 'गति' का, तथा 'यम्' अक्षर स्तम्भनरूपा–नियमनरूपा 'स्थिति' का संग्राहक बन गया। आगति–गति–स्थिति–इन तीन शक्तियों का स्वरूपविश्लेषण करने वाली 'हृ–द–यम् इन तीन अक्षरों की समष्टि ही 'हृदयम्' शब्द कहलाया, यही तात्पर्य्य है।

क्या तात्पर्य्य हुआ इस हृदयशब्दपरिभाष्या शक्तित्रयी का ?, प्रश्न का शास्त्रसमाधान उस अनिरुक्त प्रजापतितत्त्व से सम्बन्ध है जो प्रजापति प्रत्येक पदार्थ के हृदय में–केन्द्र में–गर्भ में–किंवा मर्मान्तरतम 'साम्तर' सम्बर) स्थान में प्रतिष्ठित रहा करते हैं। जिनका कि–

"प्रजापतिश्चरति गर्भे–अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
—यजु संहिता ३१।१६।

इत्यादि वचमन्त्र से यशोगान हुआ है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड उसका अपना विश्व है अपना संसार है। एवं स्वसंस्था रूप प्रत्येक वस्तुपिण्ड का–जनन–स्थिति लक्षण सुप्रसिद्ध षड्भावविकार इदूवस्तु की केन्द्र–शक्ति पर ही अवलम्बित है। आदानविसर्गनियमनभावात्मिका यह हृत्शक्ति ही अन्तरिक्षम्–नियमयति सर्वान वस्तुभावान्' निर्वचन से 'अन्तर्य्यामी' नाम से प्रसिद्ध हुई है जिसे भावुक महानुभाव घट–घट–व्यापक माना करते हैं। आहरण से ही वस्तु का स्वरूपसंरक्षण होता है। अतएव इस आदानशक्ति के अधिष्ठाता विष्णुदेवता का संरक्षक कहा गया है। विसर्गात्मक स्पन्दन से ही वस्तुस्वरूप का विश्व सनातन

हाँ तो तथ्यशैली के आधार पर ही 'विज्ञानम्' शब्द को समन्वय बनाने का अनुग्रह कीजिए, जिस इस शब्द के अक्षरों में ही भारतीय विज्ञानस्वरूप का रहस्यपूर्ण विश्लेषण सुगुप्त है, सुरक्षित है, निगद है। 'विज्ञानम्' शब्द के 'वि'–'ज्ञानम्'–ये दो विभाग स्वतः सिद्ध हैं। 'वि' सुप्रसिद्ध उपसर्ग है, जिसके विशेष–विविध, एवं विरुद्ध, तीनों ही अर्थ हो सकते हैं, जैसे कि 'वि' उपसर्ग से समन्वित 'विकर्म्म' शब्द के विशेषकर्म्म–विविधकर्म्म–विरुद्धकर्म्म तीनों अर्थ यथाप्रकरण शास्त्रों में समन्वित हुए हैं। इस दृष्टि से 'विज्ञानम्' शब्द के भी तीनों ही अर्थ सम्भव हैं, जिनके यह लक्षण किए जा सकते हैं कि—

(१) विशेषं ज्ञानं–विज्ञानम्।
( ) विविधं ज्ञानं विज्ञानम्।
(३) विरुद्धं ज्ञानं विज्ञानम्।

प्रस्तुत विज्ञानशब्द के समन्वय-प्रसङ्ग में सर्वान्त के तीसरे विरुद्धभावात्मक विज्ञानभाव का तो स्वतः एव निराकरण हो रहा है। क्योंकि प्रकृतिविरुद्ध ज्ञानात्मक विज्ञान तो अज्ञानावृत ज्ञानलक्षण वह मोह है जिसे अविद्यात्मक 'अज्ञान' ही कहा गया है, एवं जिसके सम्बन्ध में–'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' यह प्रसिद्ध है। शेष रह जाते हैं–प्रथम–द्वितीय लक्षण विशेष तथा विविधभावात्मक विज्ञान। सामान्यभाव जहाँ एकत्व का समर्थक है, वहाँ विशेषभाव अनेकत्व का समाहक माना गया है। नानाभावों से नानाभावात्मिका विशेषताओं से एवं तन्मूलक भेदभावों से सर्वथा अतीत सामान्य ज्ञान तो केवल वैसा निरपेक्ष ज्ञान है, जिसका प्राकृतिक विश्व में कोई भी उपयोग नहीं है। सामान्य-

रूपा ही है। आगे चल कर गतितत्त्व की विभिन्न अवस्थाओं के कारण ही यह गति तीन मार्गों में परिणत हो जाती है। केन्द्र से परिधि की ओर अनुगत रहने वाली वही गति जहाँ 'गति' कहलाई है, वहाँ परिधि से केन्द्र की ओर अनुगत रहने वाली वही गति 'आगति' स्वरूप में परिणत हो जाती है। ये दोनों ही गतियाँ विरुद्ध दो दिशाओं का अनुसरण कर रही हैं। विरुद्ध दिशाओं का अनुगमन करने वाली दोनों ही विरुद्ध गतियों का एक बिन्दु पर निपात हो जाना ही इनकी स्थिति में परिणति है, यही स्तम्भन है। तात्पर्य्य कम से कम दो विरुद्धदिगनुग गतिभावों के किंवा अनेक विरुद्धगतिभावों के समन्वय से उत्पन्न पड़ने वाला स्तम्भनभाव ही 'स्थितिभाव' माना गया है। इसप्रकार जिस लोकव्यवहार में 'स्थिति' कहा जा रहा है, वह भी तत्त्वतः गति का ही समुचितरूप है। और यों गति-आगति-स्थिति तीनों का एकमात्र गतिभाव पर ही विश्राम हो रहा है। एक ही गतिरूप अव्यक्त आगतिभाव से विष्णुरक्षर है, गतिभाव से इन्द्राक्षर है, एवं गतिसमन्वय रूप स्थितिभाव से ब्रह्माक्षर है। व्यवहार में तीन तत्त्व हैं, तीन भाव हैं, तीन गतियाँ हैं। परमार्थ में तो एक ही तत्त्व के ये तीन विवर्त्त हैं। तभी तो यहाँ का- एकामूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः सूत्र भेदसहिष्णु अभेदवादात्मक वेदशास्त्रसिद्धान्त सवमूलरूप समाश्रित हुआ है। जिस इत्थंभूत त्रितत्त्वमूर्त्ति एकमूर्त्ति गर्भस्थ ब्रह्मापतितत्त्व का आत्मा विसर्ग-नियमनात्मक रहस्यपूर्ण तात्त्विक वैज्ञानिक स्वरूप 'ह-द-यम्' समष्टिरूप 'हृदयम्' शब्द के माध्यम से ही सर्वात्मना विस्पष्ट बना हुआ है। और यही प्रथम उदाहरण है उस चिरन्तनशैली का प्रस्तव निदर्शन जिसके माध्यम से ही हमें 'विज्ञान' शब्दार्थ के समन्वय में प्रवृत्त होना है।

समन्वय के लिए 'शासक' शब्द का व्याहरण कर लिया करता है। यहीं सापेक्षशब्दों का परस्परानुबन्धपूरक वह सहज आकर्षण है जिसके आधार पर विज्ञान का सुप्रसिद्ध वह 'सापेक्षवाद' सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है, जिसके पुनः प्रचार का श्रेय स्वनामधन्य स्वर्गीय आइन्स्टीन महाभाग को प्राप्त हुआ है। एक को दूसरे से विभिन्न-पृथक्-बना देने वाला, अतएव 'भेदक' नाम से प्रसिद्ध 'विशेषभाव' जिससे अभिन्न है, ऐसा विविध भावात्मक ज्ञान जहाँ 'विज्ञान' कहलाया है, वहाँ इस विविध रूपा भेदकता से पृथक् एकविध ज्ञान ही 'ज्ञान' माना जायगा, एवं इसी से सापेक्ष विज्ञानशब्द की अपवादभावना उपशान्त होगी। एवं यहाँ आकर अब हमें यह कह देना पड़ेगा कि—

एकं ज्ञानं—ज्ञानम्। एवं
विविधं ज्ञानं—विज्ञानम्।

क्या तात्पर्य्य है 'एक ज्ञान ज्ञानम्' का? एवं क्या स्वरूप है 'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्' का?। किंवा क्या अर्थ है 'एकत्व' का? एवं क्या स्वरूप है अनेकत्व का?। बस यह मूल प्रश्नात्मक सूत्र जहाँ हमारी प्रज्ञा में जागरूक हो पड़ता है, वहीं तत्क्षण ही एक मन्त्र की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है—

यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥
—कठोपनिषत् ११४।११।

श्रुति ने जहाँ जहाँ नानाभावों का, अनेकभावों का पृथग्भावों का स्वरूपविश्लेषण किया है, वहाँ वहाँ उनके साथ साथ ही 'मृत्यु' शब्द का भी सम्बन्ध समन्वित माना है। अतएव इस श्रौती दृष्टि से यह

सत्तानिबन्धन–अद्वय–अतएव इन्द्रियातीत वैसा निरपेक्ष ज्ञान तो सर्वथा ही तटस्थ है इन विश्वानुबन्धी विशेष ज्ञानभावों के समतुलन में, जो कि-

"प्रत्यस्तशेषभेदं यत्–सत्तामात्रगोचरम्
वचसामात्मसंवेद्य–तज्ज्ञानं ब्रह्म संज्ञितम्"

इत्यादि रूप से 'ब्रह्मज्ञान' नाम से व्यवहृत हुआ है। अव सामान्य ज्ञानात्मक ब्रह्मज्ञान का तो यहाँ प्रसङ्ग ही नहीं है। प्रसङ्ग प्रान्त है विशेषभावात्मक विश्वानुबन्धी प्राकृतिक विज्ञानभावों का। विशेषभाव ही अनेकभावात्मक बना करता है। अतएव विशेषता तथा विविधता–दोनों अन्ततोगत्वा समानार्थ में ही परिणत हो जाती हैं। एवं इस दृष्टि से यद्यपि 'विशेषं ज्ञानं विज्ञानं'का 'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्' इस लक्षण पर ही पर्य्यवसान हो जाता है। यद्यपि विशेष और विविध–दोनों शब्दों में भी विज्ञानदृष्ट्या सुसूक्ष्म भेद है। तथापि इस सीमापर्य्यन्त अनुधावन करना अप्रासङ्गिक समझ कर प्रकृत में विशेषभाव का वैविध्य में ही अन्तर्भाव मानते हुए केवल सम्पत्त्य लक्षण का ही लक्ष्य बना लिया जाता है।

'विशेषभावानुगतं-विशेषभावाभिन्नं विविधं ज्ञानमेव विज्ञानम्' यही लक्षण बनता है विज्ञानशब्द का। विविधं ज्ञानं विज्ञानम् इस लक्षण के सुनने के साथ ही अनिवार्य्यरूप से यह जिज्ञासा जागरूक हो ही तो पड़ती है कि-'क्या कोई वैसा भी ज्ञान है जो वैविध्य से शून्य है नानात्व से पृथक् है, किंवा विश्वनिबन्धन भेदभावों से असंस्पृष्ट है? जिज्ञासानिबन्धना यही सहज अपेक्षा अपनी सापेक्षता के आकर्षण से विज्ञान शब्द के ही द्वारा 'ज्ञान' शब्द का भी आकर्षण कर लेती है। सापेक्ष विज्ञानशब्द उसी प्रकार अपनी अपेक्षा-पूर्ति के लिए ज्ञान शब्द का आहरण कर ही लेता है, जैसे कि सापेक्ष 'शासित' शब्द अपेक्षा

समन्वय के लिए 'शासक' शब्द का आहरण कर लिया करता है। यही सापेक्षतावादों का परस्परानुबन्धपूरक वह सहज आकर्षण है जिसके आधार पर विज्ञान का सुप्रसिद्ध वह 'सापेक्षतावाद' सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है जिसके पुनः प्रचार का श्रेय स्वनामधन्य स्वर्गीय आईन्स्टीन महाभाग को प्राप्त हुआ है। एक को दूसरे से विभिन्न-पृथक् बना देने वाला, अतएव 'भेदक' नाम से प्रसिद्ध 'विरोधमात्र' जिससे अभिन्न है, ऐसा विविध भावात्मक ज्ञान जहाँ 'विज्ञान' कहलाया है वहाँ इस विविध रूपा भेदकता से पृथक् एकविध ज्ञान ही 'ज्ञान' माना जायगा, एवं इसी से सापेक्ष विज्ञानशब्द की अपेक्षावासना उपशान्त होगी। एवं यहाँ आकर अब हमें यह कह देना पड़ेगा कि—

एकं ज्ञानं—ज्ञानम्। एवं
विविधं ज्ञानं—विज्ञानम्।

क्या तात्पर्य्य है 'एकं ज्ञानं ज्ञानम्' का? एवं क्या स्वरूप है 'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्' का?। किंवा क्या अर्थ है 'एकत्व' का? एवं क्या स्वरूप है अनेकत्व का?। बस यह मूल प्रश्नात्मक सूत्र जहाँ हमारी प्रज्ञा में जागरूक हो पड़ता है, वहाँ तत्क्षण ही एक मन्त्र की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है—

> यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह।
> मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥
>
> —कठोपनिषत् ४।१।११।

श्रुति ने जहाँ जहाँ नानाभावों का अनेकभावों का पृथग्भावों का स्वरूपनिरूपण किया है, वहाँ वहाँ उनके साथ साथ ही 'मृत्यु' शब्द का भी सम्बन्ध समन्वित माना है। अतएव इस भाँती दृष्टि से यह

पर्शों का अवतरण किया जा रहा है। भारतीय वैज्ञानिक दृष्टिकोण तो उससे सर्वथा पृथक् ही माना जायगा। किन्तु दर्शन भी अपने स्थान में दर्शन' तो है ही। वस्तु के वास्तस्वरूप के दर्शनमात्र करा देने की क्षमता तो इस दार्शनिक दृष्टि में भी विद्यमान है। फिर वस्तुतस्त्वा आरम्भदशा में दर्शन ही तो विज्ञान की मूलभूमिका-किंवा आरम्भदिशा मानी गई है। दार्शनिक साधनपरम्परा के माध्यम से ही मानवीय मन क्रम क्रमशः विकसित बनता हुआ कालान्तर में तदभिन्ना बुद्धि कि विज्ञान भाव से समन्वित होता हुआ विज्ञानस्वरूप का विश्लेषक बना करता है यही कारण है कि, मननात्मक एवं निदिध्यासनात्मक विज्ञान के इन दोनों पर्वों का आरम्भ सर्वप्रथम दृष्टिमूलक दर्शनपर्व ही बना करता है। जैसा कि श्रुति का—'आत्माऽरे वार्य द्रष्टव्य' इस वचन से प्रमाणित है। आत्मदर्शन ही मन का प्राथमिक व्यवसाय माना गया है। तदनन्तर ही 'कथं द्रष्टव्य' ?, यह जिज्ञासा जागरूक होती है, जिस जिज्ञासा का समाधान इसी श्रुति के द्वारा यों हुआ है कि—

प्रथम-श्रोतव्य, अनन्तर मन्तव्य', एवं सर्वान्त में निदिध्यासितव्य'। तथा श्रवण-मनन निदिध्यासनरूपया आत्मार्य द्रष्टव्य'। दर्शन, तन्मूलक श्रवण तन्मूलक मनन एवं तन्मूलक निदिध्यासन का जब उदय होगा, तभी विज्ञान का पूर्णस्वरूप जागरूक बन पाएगा। अभी तो हमारे लिए 'द्रष्टव्य निबन्धन दार्शनिक दृष्टिकोण ही एकमात्र अवलम्ब बना हुआ है।

तो क्या देखा हमने ज्ञान और विज्ञानशब्दों के द्वारा ?। देखा अन्ततः हमने यह कि-अवश्य ही कोई वैसा प्रश्न-शास्वत-

प्रमाणित है कि नानात्व-भेदत्व-पृथक्त्व-जहाँ मृत्यु का स्वरूपधर्म्म है, वहाँ अनेकत्व अभेदत्व अपृथक्त्व-अमृत का ही स्वरूपधर्म्म है। हम समझे नहीं अमृत तो क्या एवं मृत्यु क्या ? । क्या तात्पर्य्य है हमारा इन अमृत-मृत्युशब्दों से ? । श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् !!

वैसा यः कश्चित् तत्त्व जो कि स्वस्वरूप से निरपेक्षस्थिति-भावापन्न है, अतएव अपरिवर्तनीय है, अतएव नित्यकूटस्थ है अतएव शाश्वत है अविनाशी है सनातन है ध्रुव है व्यापक है, अत्यन्तपिन्न भाग से एकान्ततः असीम अतएव मायातीत अतएव च विश्वातीत है वही निरपेक्ष 'एकत्व से समन्वित रह सकता है एवं उस ही हम 'अमृत' कहा करते हैं और सम्भवतः अमृतात्मक उसी एकत्वनिबन्धन तत्त्वविशेष का नाम निरपेक्ष-'ज्ञान है। इस सम्बन्ध में यह सर्वथा अविस्मरणीय है कि—अमृतब्रह्म का यह तटस्थलक्षण ही आपके सम्मुख रक्खा जा रहा है। क्योंकि वाङ्मनसपथातीत ऐसे निष्कल ज्ञानब्रह्म का स्वरूपलक्षण सम्भव ही नहीं है, जैसा कि—

> सं विदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
> यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

इत्यादिरूप से उसकी अनिर्वचनीयता स्वतः सिद्ध है। एवमेव सापेक्ष अमृतभावात्मक ज्ञान तथा सापेक्ष मृत्युभावात्मक विज्ञान का स्वरूप भी अभी आरम्भ में तो इसी तटस्थभाव का अनुगमन कर रहा है। इसी तटस्थस्वरूप के माध्यम से आगे चलकर सम्भव है हम इन सापेक्ष-ज्ञानविज्ञानभावों के स्वरूपलक्षण-निष्कर्ष पर भी पहुँच सकें। दूसरे शब्दों में अभी तो केवल दार्शनिक दृष्टिकोण से ... [illegible]

स्वानुभैकगम्य उस विशुद्ध अमृतात्मक निरपेक्ष ज्ञान के साथ इन सापेक्ष ज्ञान-विज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय-आदि शब्दों का कोई सम्बन्ध नहीं है। आस्तां तावत्। देखिए उपप्रासनमात्रात्मिका इस दार्शनिक दृष्टि से आगे चल कर क्या तथ्य निकलता है। सर्वथा लोकप्रज्ञामात्र से समन्वित प्रश्नोत्तरविमर्शों के लिए आतुर अपन सभी अनुमान ही तो कर रहे हैं इन शब्दार्थों का। शाश्वत अनन्यभावापन्न जो मूलसत्य है, जिसे कि-'सत्यस्य सत्यम्' कहा गया है, जो कि 'ज्योतिषां ज्योतिः' है वह तो तटस्थ ही रहा है हमारी लोकप्रज्ञा से एवं तटस्थ ही बना रहेगा तबतभि पर्य्यन्त, यदवधि पर्य्यन्त कि हम इन ज्ञान-विज्ञान के लौकिक-भौतिक विजृम्भणों में आसक्त-व्यासक्त बने रहते हुए तदनुप्राणिता प्रश्नोत्तर-विमर्शचर्चा की उपासना करते रहेंगे। सिद्धावस्थानुगता स्वानुभूति के उपयानन्तर तो न प्रश्न ही सम्भव, न उत्तरप्रदान की ही आतुरता।

एक प्रसङ्ग के द्वारा थोड़ी देर के लिए हम अपने आपको इस तथ्य का अनुगामी मान लेते हैं कि, इस विविधभावसमाक्रान्त महामहिम महाविश्व में जैसे भाव-जो प्रतिक्षण विलक्षण—नवीन-नवीन भावों में परिवर्त्तित होते रहते हैं पूर्वक्षण में किसी अन्य स्वरूप से संयुक्त रहते हुए उत्तर क्षण में किसी अन्य अवस्था में परिणत होजाया करते हैं, तदुत्तरक्षण में पुनः किसी अन्य ही स्वरूप में आते रहते हैं, इसप्रकार अव्यक्त-व्यक्त-पुनः-अव्यक्त-फिर व्यक्त-पुनः-अव्यक्त-इस रूप से क्षण क्षण में परिवर्त्तित बने रहते हुए जो कोई भी दृष्ट-श्रुत-वर्णित उपवर्णित भूत-भौतिक पदार्थ हैं, उन सब क्षणभावापन्न परिवर्त्तनशील पदार्थों को विज्ञानशब्द की सीमा में अन्तर्भुक्त मान सकते हैं। क्योंकि दृश्यभूत सभी पदार्थों में वैविध्य है, नानात्व है। अतएव अब हमें

स्वानुभैकगम्य उस विशुद्ध अमृतात्मक निरपेक्ष ज्ञान के साथ इन सापेक्ष ज्ञान-विज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय-आदि शब्दों का कोई सम्बन्ध नहीं है। आस्तां तावत्। देखिए उपन्यसनमात्रात्मिका इस दार्शनिक दृष्टि से आगे चल कर क्या तथ्य निकलता है। अथवा लोकप्रज्ञामात्र से समन्वित प्रश्नोत्तरविमर्श के लिए आतुर अपन सभी अनुमान ही तो कर रहे हैं इन शब्दार्थों का। शाश्वत अनन्तभावापन्न जो मूलसत्य है, जिसे कि- 'सत्यस्य सत्यम्' कहा गया है, जो कि 'ज्योतिषां ज्योतिः' है वह तो तटस्थ ही रहा है हमारी लोकप्रज्ञा से, एवं तटस्थ ही बना रहेगा तदवधि पर्य्यन्त, यदवधि पर्य्यन्त कि हम इन ज्ञान-विज्ञान के लौकिक-भौतिक विजृम्भणों में आसक्त-व्यासक्त बने रहते हुए तदनुप्राणिता प्रश्नोत्तर-विमर्शचर्या की उपासना करते रहेंगे। सिद्धावस्थानुगता स्वानुभूति के उदयानन्तर तो न प्रश्न ही सम्भव, न उत्तरप्रदान की ही आतुरता।

इस प्रसङ्ग के द्वारा थोड़ी देर के लिए हम अपने आपको इस तथ्य का अनुगामी मान लेते हैं कि इस विविधभावसमाक्रान्त महामहिम महाविश्व में बसे भाव-जो प्रतिक्षण विलक्षण—नवीन-नवीन भावों में परिवर्तित होते रहते हैं पूर्वक्षण में किसी अन्य स्वरूप से संयुत रहते हुए उत्तर क्षण में किसी अन्य अवस्था में परिणत होजाया करते हैं, तदुत्तरक्षण में पुनः किसी अन्य ही स्वरूप में आते रहते हैं इसप्रकार अव्यक्त-व्यक्त-पुनः-अव्यक्त-फिर व्यक्त-पुनः-अव्यक्त-इस रूप से क्षण क्षण में परिवर्तित बने रहते हुए जो कोई भी दृष्ट-श्रुत-वर्णित अवर्णित भूत-भौतिक पदार्थ हैं उन सब क्षणभावापन्न परिवर्त्तनशील पदार्थों को विज्ञानवाद की सीमा में अन्तर्भुक्त मान सकते हैं। क्योंकि दृश्यमान सभी पदार्थों में वैविध्य है, नानात्व है। अतएव अब हमें

व्यापक-अजर अमर-तत्त्व है जिसे व्यवहार की सुविधा के लिए क
हम 'ज्ञान' शब्द से व्यवहृत किए जाते हैं। दूसरे शब्दों में क्षणा
एकरसात्मक-अन 'अमृत' तत्त्व को ही 'ज्ञान' कह सकते हैं। थोड़ा सा
स्पष्टीकरण अपेक्षित है अभी। यह सर्वात्मना असंशय है कि, प्रस्त
प्रकरण के ज्ञान और विज्ञान, दोनों ही शब्द सापेक्ष बन रहते हैं
सापेक्षिक शब्द हैं विषयानुबन्धी शब्द हैं। यदि विषयानुबन्धी वि
नानाभावत्वेन मृत्युमय है, तो तत्प्रतिद्वन्द्वी तत्सापेक्ष विषयानुब
ज्ञानशब्द भी कहने सुनने मात्र के लिए एकत्वभावनिबन्धनत्वेन अम
बनता हुआ भी वस्तुतः मृत्यु से ही आक्रान्त बना रहता हुआ मृत्यु
ही है। जो विषयातीत-भाव तीत निरपेक्ष शुद्ध ज्ञान है, वह तो सर्वथा
तटस्थ है। कोई सम्बन्ध नहीं है उस विशुद्ध-निरपेक्ष अमृतभावात्म
तटस्थ विषयातीत ज्ञान का इन सापेक्ष ज्ञान-विज्ञान-भावों के साथ
इसीलिए तो हमें कहना पड़ा कि वह तो दृष्टिमात्र है जिसके माध्य
से सर्वथा तटस्थरूप से उस तटस्थ का इस ज्ञानविज्ञानात्मक तट
प्रतिष्ठित रहते हुए हम उसका अनुमानमात्र ही लगा सकते हैं सो
अपने अन्तर्जगत् में सर्वथा परोक्षरूप से ही—'को अद्धा वेद, क
प्रवोचत्'।

जिस ज्ञान का यहाँ अमृतरूप से महत्ता समारम्भेण बखान कि
जा रहा है वह तो ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। ज्ञाता स्वयं होने मू
भौतिक विषयों की अपेक्षा में निमग्न है जो कि नानाविध ज्ञेय विषय
विविध भावात्मक विज्ञान के पक्ष माने गए हैं। ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञ य-विष
विज्ञान-आदि आदि सभी शब्द एकदेशतया भौतिक पदार्थों के साथ
समन्वित रहने वाले सापेक्ष शब्द हैं। विषयातीत अचिन्त्य अता

"गुणमूर्तेरसमवे समूह' क्रमजन्मनाम् ।
बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते" ॥

क्रियातत्त्व के सम्बन्ध में हम यह भलीभाँति जानते हैं कि, गतिशीला यह क्रिया अपने स्वधर्मानुबन्धी अव्यक्त-व्यक्त-तथा अव्यक्त-भावों के कारण त्रिक्षणस्थायिनी है, अर्थात् मध्यस्थ व्यक्त क्षण की दृष्टि से एकक्षणस्थायिनी है, एवं अन्ततोगत्वा प्रतिक्षण विलक्षण भावात्मक क्षणिक परिवर्त्तन के कारण व्यक्तावस्थापन्न मध्यस्थ क्षण के भी परिवर्त्त नात्मक ही रहने से एक क्षण भी स्थायिनी नहीं है । जबकि इस क्षणिक परिवर्त्त न के कारण -जिस क्षणाभास का भी पर्य्यवसान अन्ततोगत्वा सुसूक्ष्म परिवर्त्त न की अपेक्षा से आत्यन्तिक अभाव अचिन्त्य-परिवर्त्तन भाव पर ही हो रहा है—तो ऐसी दशा में - 'हम आते हैं, जाते हैं, बैठते हैं सोते हैं भोजन करते हैं" इत्यादि सर्वानुभूत वाग्-व्यवहारों से सम्बन्ध रखने वाले समूहालम्बनात्मक अखण्ड धारात्मक ज्ञान हमें किसके द्वारा कैसे उपलब्ध होरहा है, जबकि जो क्रिया अपने क्षणभाव के कारण पूर्वक्षण में थी उसका उत्तर क्षण में इसका वद्युत्तरक्षण सर्वथा अव्यक्तात्मक अभाव ही प्रमाणित होरहा है ? । दूसरे शब्दों में क्रियापुञ्जात्मक धाराबाहिक इन नाना संस्कारों को किस एक अपार-पारीण एक अविच्छिन्न पट ने अपने धरातल पर अंकित-संक्षित-प्रतिष्ठित रक्खा ? इस प्रश्न का समाधानात्मक क्रियासम्बन्ध संस्कारों का आधारात्मक समूहालम्बनज्ञानप्रवर्त्तक जो भी कोई अविच्छिन्न अपार-पारीण एक पट होगा उसे अवश्य ही नानाभावों से पृथक् ही वस्तुतत्त्व मानना पड़ेगा अवश्य ही उसे विविधभावापन्ना क्रियाओं से पृथक् एक-रस ही कहा जायगा । और क्योंकि वह एक रसात्मक है, अतएव उस

असृष्टिम्बरूप से यह कह ही देना चाहिए कि–जितना भी नानात्व प्रपञ्च है पार्थक्यप्रपञ्च है, अनकत्त्वदर्शन है, भेदानुगमन है, वह सब कुछ विज्ञानजगत् की सीमा से ही सीमित बना हुआ है।

यो यों नानात्व ही परिवर्त्तनशील तत्त्व हुआ, जिसे हम इस वक्तव्य–भावानुगत परिवर्त्तन के कारण गतिशील तत्त्व भी कह सकते हैं, क्रियातत्त्व भी मान सकते हैं। इसी आधार पर हमारे विशेष आग्रह से अब आप यह भी मान ही लीजिए कि, परिवर्त्तनभावात्मक गतितत्त्व से अभिन्ना बनी रहने वाली क्रिया तब तक स्वगतिरूप व्यापार के सञ्चालन में स्वस्वरूप से सर्वथा असमर्थ ही बनी रहती है, जब तक कि इसे अपना कोई निष्क्रिय धरातल उपलब्ध नहीं हो जाता। 'भुक्' नाम का कोई स्थिर धरातल है, तब न आप तदाधार पर गलामःकरयालुकूलव्यापारलक्षण भोजनक्रिया में समर्थ बनते हैं। स्वरूप भूपिण्डात्मक अमुक भूक्षेत्र एक स्थिर आलम्बन है, तभी तो आप पादविक्षेपरूपा अपनी गति की अभिक्रम–प्रक्रमरूपा व्यूहनक्रिया में सफलता प्राप्त करते हैं। सर्वथा संसिद्ध है कि, प्रत्येक क्रिया के लिए, क्रिया के स्वरूपसञ्चालन के लिए क्रियास्वरूपव्यवस्था के लिए एक निष्क्रिय स्थिर धरातल नित्य अपेक्षित मानना ही पड़ेगा। और साथ साथ ही उस निष्क्रिय स्थिर धरातल के सम्बन्ध में आप को यह भी मान ही लेना पड़ेगा कि, वह आधारभूत आलम्बन–प्रतिष्ठातत्त्व क्रिया का अवारपारीण–ओरछोर का आधार बनता हुआ एकत्वधर्म्म से ही आक्रान्त है जो कि नानात्व का विविध क्रियाधाराओं का आलम्बन बनता हुआ भी स्वयं अपने रूप से नानात्व से पृथक् ही बना हुआ है। सुप्रसिद्ध वैय्याकरण भगवान भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदी नामक ग्रन्थ में एक स्थान पर क्रिया के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—

अनभिव्यक्तत्वात् जैसे महामोहसागर में ही निमज्जित कर दिया। यही कारण है कि जिस भारतराष्ट्र की ऋषिप्रज्ञा ने अक्षय्य ज्ञानप्रतिष्ठा के आधार पर सृष्टिस्वरूपसंरक्षक-लोकाभ्युदयप्रवर्त्तक-समस्त ऐश्वर्य्यसंसाधक सर्वप्रथम जिस विज्ञानसूत्र को अभिव्यक्त कर देने का महान् गौरव प्राप्त किया था, उसी ऋषिप्रज्ञा की दायाद्भोगकर्त्री वर्त्तमान भारतराष्ट्र की आस्तिक प्रज्ञा 'विज्ञान' शब्द श्रवणमात्र से भी आज उन्मुग्ध बन जाती है जिसके परिलोप के लिए ही हमें यहाँ 'विज्ञान' शब्द को भारतीय दृष्टिकोण से समन्वित कर देने की आवश्यकता प्रतीत हुई है।

'कलौ वेदान्तिन सर्वे' का अनुगमन कर बैठन वाला भारतीय जनमानस ज्ञानाभिनिवेश में आकर राष्ट्र की वैज्ञानिक-विभूतियों से कब से क्यों कैसे पराङ्मुख बन गया? कसे इसकी चिरन्तन विज्ञाननिष्ठा आज विज्ञानशब्द-श्रवणमात्र से भी उन्मुग्धवत् बन जाने लगी? इत्यादि प्रश्नों के समाधान का यहाँ अवसर नहीं है। अन्य निबन्धों में इन सभी समस्याओं का ऐतिहासिक मर्म व्यक्त किया जा चुका है। अत प्रकृत में उस ओर न जाकर सर्वात्मना विज्ञानशब्दार्थसमन्वय की ओर ही आप का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

अपने प्रकृतिसिद्ध वैशिष्ट्य से नानात्व से विज्ञान का स्वरूपलक्षण परिवर्त्तनात्मक मृत्युभाव ही है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। ठीक ! तो क्या मृत्युतत्त्व भी मानव का कुछ उपकार कर सकता है ?, यह एक गम्भीर प्रश्न इस स्थिति में सहसा ही उद्बुद्ध हो पड़ता है। विज्ञान यदि मृत्यु है, तो वह मानव के लिए सर्वथा हेय ही होना चाहिये

इम अपरिवर्त्तनीय ही कहेंगे। अपरिवर्त्त भाव सनातन तत्त्व ही क्योंकि शास्वत माना गया है। यही शाश्वतता क्योंकि इसका अमृतभाव है। अतएव अवश्य ही यहाँ आकर उस क्रियाधार एक तत्त्व को हम 'अमृत' शब्द से व्यवहृत कर सकेंगे। एवं इसी समन्वय के माध्यम से अब यह कहा जा सकेगा कि—

मृत्यु का नाम ही विज्ञान है, एवं अमृत का नाम ही ज्ञान है। मृत्युभावात्मक विज्ञान नानाभावापन्न है, एवं अमृत-भावात्मक ज्ञान एकत्वानुबन्धी है। जो एकत्वनिबन्धन ज्ञान की उपासना करते हैं, वे अमृतपथ का अनुगमन कर रहे हैं। एवं जो नानात्वनिबन्धन विज्ञान में प्रवृत्त हैं, वे मानो मृत्युपथ का ही आह्वान कर रहे हैं। और यही भारतीय विज्ञान शब्द का, एवं तत्सापेक्ष ज्ञानशब्द का एक प्रकार का समन्वय माना जा सकता है, माना जाता रहा है अव्यक्तोपासक सांख्यनिष्ठ ज्ञानमात्राभिनिविष्ट ज्ञानयोगियों की दृष्टि में ऐसा ही कुछ।

निश्चयेन अव्यक्तनिष्ठा में अभिनिविष्ट ज्ञानवादियों के अनुग्रह से ही भावापस्मृशास्त्रसिद्ध ज्ञानसहकृत विज्ञानतत्त्व विगत कई एक शताब्दियों से भारतीय प्रज्ञा से सब का पराङ्मुख ही बन गया है। सृष्टि विज्ञानात्मक कर्मों के त्याग पक्ष को ही प्रधानता दे बैठने वाले सांख्य-निष्ठ ज्ञानवादियों की महती कृपा किंवा महान् अभिशाप के ही दुष्परि-णामस्वरूप कर्म्माधारभूत समस्त वेदविज्ञान अभिभूत ही बन गया। रह गया शेष सर्वकर्मपरित्यागलक्षण अतएव विज्ञानवञ्चित भैसा सुसूक्ष्म शुष्क ज्ञानवाद, जिसने एकदेशेन सम्पूर्ण राष्ट्र को ही कम्पित-

करता करता आरहा है। दर्शन का दृष्टि से सम्बन्ध माना गया है, दृष्टि द्रष्टा पर अवलम्बित है, एवं मानव की अध्यात्मसंस्था में 'समदर्श' नाम से प्रसिद्ध आत्मा ही द्रष्टा माना गया है। द्रष्टा आत्मा की दृष्टिसे सम्बन्ध रखने वाला समदर्शन ही भारतीय परिभाषा में वास्तविक दर्शन माना गया है।

अब 'वर्त्तन' शब्द को लक्ष्य बनाइए। वर्त्तन का वृत्ति-आचरण-कर्म्म से सम्बन्ध माना गया है। कर्म्माचरणात्मिका वृत्ति बुद्धिमनःशरीर से समन्वित कायभाव पर अवलम्बित है। आत्मसाक्षी में प्रतिष्ठित बुद्धि-मन-इन्द्रियशरीरानुगत पाञ्चभौतिक शरीर ही वर्त्तन का आधार माना गया है। आत्मयुक्त बुद्धि-मन-शरीरेन्द्रियधर्म्मा मानव के आधार से व्यवहार से-कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाला विषम वर्त्तन ही भारतीय परिभाषा में वास्तविक वर्त्तन माना गया है। बुद्धिमन-शरीरेन्द्रियात्मक वही मानव लौकिक मानव है, एवं आत्मनिष्ठ वही मानव अलौकिक मानव है। आत्मनिष्ठ वही मानव समदर्शन का केन्द्रबिन्दु बना रहता है एवं बुद्धिमनशरीरेन्द्रियानुगत वही मानव विषमवर्त्तन का हृदयबिन्दु बना रहता है। आत्मगर्भित बुद्धिमनःशरीरेन्द्रियात्मक अपने लौकिक स्वरूप से वही मानव नानाभावापन्न-प्रकृतिवैषम्य-विभिन्न व्यवहारों का वर्त्तन करता है, एवं यही इसका लोकपक्ष है। बुद्धिमनशरीरेन्द्रिय-गर्भित अलौकिक आत्मस्वरूप से वही मानव अभिन्नभावापन्न समदर्शन का अनुगामी बना रहता है एवं वही इसका अलौकिक आत्मपक्ष है। यों आत्ममूलक समदर्शन तथा विश्वानुबन्धी शरीरमूलक विषमवर्त्तन दोनों के समसमन्वयात्मक इत्थंभूत दृष्टिकोण से मानव आत्मानुबन्धी निःश्रेयस भी प्राप्त कर लेता है, एवं शरीरानुबन्धी अभ्युदय भी उपलब्ध

भारतीय ज्ञानाभिनिविष्ट भावुक मानवों की भाँति। ऐसा कौन मानव-जो कि शाश्वत अमरता का इच्छुक बना रहता है-इस अशाश्वत मृत्यु के साथ समालिङ्गन करना चाहेगा ?। मानना पड़ेगा कि, इस दृष्टि से तो मानव का उपास्य एकमात्र वह अमृततत्त्व (ज्ञानतत्त्व) ही हुआ, जिसकी प्राप्ति के अनन्तर मानव नानात्वनिबन्धन मृत्युपाशों से अहिकञ्चुकवत् विनिर्मुक्त हो जाया करता है। यही तो मानव का वह दृष्टिकोण था, जिसने 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति-य इह नानेव पश्यति' के वैज्ञानिक रहस्यार्थ से अनभिज्ञ भावाविष्ट भावुक भारतीय मानव को पूर्वकथनानुसार उस कर्मत्यागलक्षण ज्ञानात्मिका सांख्यनिष्ठा की ओर बलात् आकर्षित कर लिया जोकि इत्थंभूत कर्मत्यागलक्षण विज्ञानत्यागानुगत अनार्ष दृष्टिकोण इस भारतीय मानव के, किंवा तद्द्वारा सम्पूर्ण भारतराष्ट्र के दुर्भाग्य का ही श्रीगणेश बन बैठा।

तो क्या हम विज्ञान शब्द के विमोहन में आकर जान बूझ कर भारतीय मानवों को इस मृत्युमुख की ओर आकर्षित करें ?। क्या ऐसा करना पौरुषकोटि में अन्तर्भूत मान लिया जायगा ? । हम कहेंगे अवश्य। क्या 'मृत्युमाप्नोति-य इह नानेव पश्यति' इस वेदसिद्धान्त के ही विरोधी प्रमाणित न हो जायेंगे हम इसप्रकार नानात्वलक्षण विज्ञानभाव का अनुगमन करते हुए ?। नहीं। क्यों ? । इसलिए कि वेदसिद्धान्त ने मृत्यु के दर्शनमात्र का निषेध किया है, वरण का नहीं जैसाकि-'य इह नानेव पश्यति' वाक्य से स्पष्ट है। समझे नहीं हम इस दर्शन-अदर्शन का तात्पर्य ?। इसी बिन्दु पर तो प्राच्य तथा प्रतीच्य संस्कृति सभ्यताओं का वह दृष्टिकोण हमें समन्वित करना है, जिसके अभिभव से प्राच्य भारतराष्ट्र आज प्रतीच्य राष्ट्रों का अन्धानु-

करण करता आरहा है। दर्शन का दृष्टि से सम्बन्ध माना गया है, दृष्टि द्रष्टा पर अवलम्बित है, एवं मानव की अध्यात्मसंस्था में 'सम' नाम से प्रसिद्ध आत्मा ही द्रष्टा माना गया है। द्रष्टा आत्मा की दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला समदर्शन ही भारतीय परिभाषा में वास्तविक दर्शन माना गया है।

अब 'वर्त्तन' शब्द को लक्ष्य बनाइये। वर्त्तन का वृत्ति-व्यापार-कर्म्म से सम्बन्ध माना गया है। कर्म्माचरणात्मिका वृत्ति बुद्धिमनःशरीर से समन्वित कायभाव पर अवलम्बित है। आत्मसाक्षी में प्रतिष्ठित बुद्धि-मन-इन्द्रियवर्गानुगत पाञ्चभौतिक शरीर ही वर्त्तन का आधार माना गया है। आत्मयुक्त बुद्धि-मन-शरीरेन्द्रियधर्म्मा मानव के आधार से व्यवहार से-कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाला विषम वर्त्तन ही भारतीय परिभाषा में वास्तविक वर्त्तन माना गया है। बुद्धिमन-शरीरेन्द्रियात्मक वही मानव लौकिक मानव है एवं आत्मनिष्ठ वही मानव अलौकिक मानव है। आत्मनिष्ठ वही मानव समदर्शन का केन्द्रबिन्दु बना रहता है एवं बुद्धिमनशरीरेन्द्रियानुगत वही मानव विषमवर्त्तन का हृदय बिन्दु बना रहता है। आत्मगर्भित बुद्धिमनःशरीरेन्द्रियात्मक अपने लौकिक स्वरूप से वही मानव नानाभावात्म-प्रकृतिभेदभिन्न-विभिन्न व्यवहारों का वर्त्तन करता है, एवं यही इसका लोकपक्ष है। बुद्धिमनःशरीरेन्द्रिय-गर्भित अलौकिक आत्मस्वरूप से वही मानव अभिन्नभावात्म समदर्शन का अनुगामी बना रहता है एवं यही इसका अलौकिक आत्मपक्ष है। यों आत्ममूलक समदर्शन, तथा विभिन्नानुबन्धी शरीरमूलक विषमवर्त्तन, दोनों के समसमन्वयात्मक सर्वभूत दृष्टिकोण से मानव आत्मानुबन्धी निःश्रेयस भी प्राप्त कर लेता है, एवं शरीरानुबन्धी अभ्युदय भी उपलब्ध

कर लेता है। 'समदर्शनतानुगत विषमवर्त्तन' ही भारतीय जीवन की मूलपरिभाषा है, जिसका लोकभाषा में यों स्पष्टीकरण सम्भव है कि- 'आत्मनिष्ठ मानव को सर्वत्र समदृष्टि ही रखनी चाहिए, एवं इस समदृष्टि को आधार बना कर ही इसे प्रकृतिभेदभिन्न लौकिक व्यवहारों में देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धादि के तारतम्य से विभक्त-व्यवस्थित रूप से ही प्रवृत्त रहना चाहिये। आत्ममूलक इसी समदर्शन को लक्ष्य बना कर जहाँ भगवान् ने अपने गीताशास्त्र में—

"विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (गीता ५।१८)।
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ (गीता ६।२९)।
यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति ॥ (गीता ६।३०)।
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन!।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥" (गीता ६।३२)।

इत्यादि रूप से एकत्वनिबन्धन आत्ममूलक समदर्शन सिद्धान्त स्थापित किया है वहाँ उसी गीताशास्त्र ने—

"ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्राणां च परन्तप!।
कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ (गीता १८।४१)।
स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्म्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति, तच्छृणु ॥(गीता १८।४५)।

श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ (गी० १८।४७) ।
सहजं कर्म्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥ (गी० १८।४८) ।
स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्म्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ (गी० १८।६०) ।
स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः ।" (गी ३।३५) ।

इत्यादि रूप से नानात्वनिबन्धन बुद्धिमनःशरीरेन्द्रियमूलक विषम-दर्शन का ही समर्थन किया है । नानाभावात्मक अतएव 'मृत्युसंसार वर्त्मनि' (गीता ९।३) के अनुसार 'मृत्युसंसार' नाम से प्रसिद्ध इस प्राकृतिक पाञ्चभौतिक विश्व में विभिन्न प्रकृतियुक्त विभिन्न कर्म्मों का सर्वथा विभिन्न रूप से ही अनुष्ठानात्मक अनुवर्तन सम्भव है । प्रकृति-भेद व्यवहार के आधार पर परस्पर में सर्वथा विभक्त, अतएव एक दूसरे से विषम बने हुए कर्म्म ही तो तत्तत् पदार्थों की बाह्य प्राकृतिक संस्थाओं के स्वरूपरक्षक माने गये हैं । यह प्रकृतिवैषम्य तदनुगत कर्म्मवैषम्य, एवं तदनुप्राणित विभिन्नभावात्मक विषमवर्त्तन ही तो विश्व की स्वरूप व्यवस्था है जिस व्यवस्था को ही 'विधान' कहा गया है । यही वह प्राकृतिक विधानसिद्ध धर्म्मभेद है जो सनातन समभावापन्न आत्मभाव के आधार पर प्रतिष्ठित रहता हुआ 'सनातनधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि सर्वथा विधान से सम्बद्ध है । अब कि इतर मतवाद केवल मानसिक कल्पना से प्रसूत बनते हुए इस धर्म्मपरिभाषा से एकान्ततः बहिष्कृत हैं । 'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' के अनुसार प्रकृतिभेदभिन्न विषम-

वर्त्तमानात्मक यह धर्म्म ही तो प्राकृतिक विश्व की मूल प्रतिष्ठा माना ग
है जिसे निरपेक्ष मान बैठने से ही मानव की स्वरूपप्रतिष्ठा का ही उच्छे
हो जाता है। जिस प्रकार वात-पित्त-कफ-इन तीनों धातुओं की
क्रिया साम्य स्वास्थ्य की मूलप्रतिष्ठा माना गया है, तथैव सत्त्व-रज
स्तमोगुणमयी विश्वाधारभूता प्रकृति का वैषम्य ही विश्व की मूलप्रतिष्ठा मा
गया है। गुणों की साम्यावस्था तो प्रलय की अधिष्ठात्री बन जाया कर
है। दूसरे शब्दों में विभक्त गुण-कर्म्मानुबन्धी विषमवर्त्तन को
मानव कल्पित मानवता, कल्पित साम्यवाद के आवेश में आकर
समानवर्तन-समानाधिकार के व्यामोहन का अनुगामी बन जाता है
उसका स्वरूप ही उच्छिन्न हो जाता है। एवं इत्थंभूता समवर्त्तनाभिन
समानाधिकारानुगति अन्ततोगत्वा विश्वस्वरूप की ही उच्छेदिका प्रमाणि
हो जाती है। और यहाँ आकर हमें यह मान ही लेना पड़ता है कि
आत्ममूलक समदर्शनात्मक एकत्व पर आस्थित मानव शरीरमूलक विश
वर्त्तनात्मक अनेकत्व का अनुगमन करता हुआ ही आत्मिक शा
लक्षण निःश्रेयस एवं भौतिक समृद्धिलक्षण अभ्युदय दोनों पुरुषार्थों
समन्वित हो सकता है। 'नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय' । 'अविभक्त
विभक्तेषु' इत्यादि के अनुसार सम्पूर्ण विभक्त भूतभावों में अविभक्त
रूप से-समानरूप से प्रतिष्ठित रहने वाले सर्वव्यापक आत्मभाव
अनुप्राणित अमृतलक्षण एकत्व जिस मानव की मूलप्रतिष्ठा बन जा
है ऐसे समदर्शी मानव का प्रकृतिसिद्ध विभक्त लोकानुवर्त्तन
'योगी' पद पर ही समासीन कर देता है। इसीलिए—

> सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
> सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥
>
> —गीता ६।३१।

"अखिल सबको एक दृष्टि से, आत्मदृष्टि से, समदृष्टि से, नु व्यवहार कीजिए सब से पृथक् पृथक्" यही भारतीय ज्ञान-ज्ञानसम्मत तात्त्विक साम्य दृष्टिकोण है। समदर्शन से ज्ञानसम्पत्ति सिद्ध है तो विभिन्न वर्तन से विज्ञानसमृद्धि संसिद्ध है। 'आत्मौपम्येन सर्व समं पश्यति योऽर्जुन' से स्पष्ट ही समदर्शन आत्मभाव पर वलम्बित है, जिसका 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति, स पश्यति' आदि से भी स्पष्टीकरण हुआ है। 'पण्डिता समदर्शिनः' ठीक है। सका कदापि यह तात्पर्य्य नहीं है कि-'समवर्तिनः'। 'य इह नानेव पश्यति' इसप्रकार का विषमदर्शन ही मृत्युपाशबन्धन का कारण बना रहा है न कि नाना-वर्तन। यदि वर्तन को सम बना लिया जाता है, तो दर्शन स्वतः एव विषम बन जाता है। और भी विपरीत दशा में विषमदर्शन से आत्मस्वरूप तो हो जाता है म समूह एवं समदर्शन से शरीरस्वरूप हो जाता है उच्छिन्न। 'सुसमवर्तना-नुगत विषमदर्शन' ही मानव के सर्वनाश का प्रधान कारण है। 'दृष्टि पृथक् व्यवहार समान है', यही मानव का दानवीयभाव है, किंवा पशुभाव है। आहार-निद्रा-भय—अन्यान्य ऐन्द्रियक व्यासङ्ग आदि में समानाचरणात्मक समवर्तन किन्तु परस्पर समता विषमदृष्टिनिक्षेप किया उपेक्षा किया जड़ता, यही तो जड़तात्मक पशुभाव है। समाना-चरण से प्रकृति का स्वरूप उच्छिन्न एवं विषमा दृष्टि से आत्म नष्टप्रायः शान्ति का पराभव। न आत्मशान्ति न लौ अभ्युदय। अभ्युदय-निःश्रे-यस से शून्य, इत्थंभूत विषमदर्शनानुगत समवर्तन कदापि मानव की शान्ति-समृद्धि का कारण नहीं बन सकता, जिसे कि दुर्भाग्य से सगर्व अपनाते हुए इस साम्य मानव ने अपना सभी कुछ अभिभूत कर दिया है किंवा करता जा रहा है।

प्रसङ्ग चल रहा है—'मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति, य इह नाने पश्यति' इस श्रुति का। अवश्य ही नानादर्शन मृत्युपाशबन्धन का कार है जबकि नानापत्तन मृत्युपाश का निवर्त्तक ही बना करता है। विर्ा का सहजभाषा के माध्यम से थोड़ा और भी स्पष्टीकरण कर लिया जाव क्या कोई ऐसा प्रकार है, ऐसी पद्धति है, जिसके द्वारा मृत्युरूप विज्ञा से सम्बन्ध रखने वाले लाभांशों से तो हम समन्वित होते रहें, एवं इस सम्बन्ध रखने वाले हानिकर बन्धनों से ध्वंसभावों से हम बचे रहें ? यदि ऐसा कोई माध्यम हमें उपलब्ध हो जाय तो अवश्य ही उ अवस्था में लाभोपयोगिता की दृष्टि से हम मृत्यु को किंवा तद्रूप विज्ञा की भी उपासना कर सकते हैं। कारण स्पष्ट है। लाभ के लिए बुरी बुरी उस वस्तु को भी अपनाया जा सकता है-उस दशा में जब लाभप्रवर्त्तिका उस वस्तु की बुराइयों तो हमारे मनःक्षेत्र से सम्मिलित नहीं एवं अपकाइयों से हम वञ्चित रहें नहीं। कौनसा है ऐसा शक्तिमा माध्यम ? इस प्रश्न का समाधान अब आपको स्वयं ही ढूँढ निका लेना है। वही माध्यम प्राच्य भारतीय परिभाषा में 'ज्ञान' नाम से प्रसि हुआ है।

यदि ज्ञान को आधार बना कर आप विज्ञान में प्रवृत्त होंगे विज्ञानजनित जितने लाभांश हैं उनसे तो आपका प्रज्ञाक्षेत्र समन्वि हो जायगा, एवं विज्ञानजनित जो भी क्षणिकभाव मानव को मृत्युपाश अोर आकर्षित करते रहते हैं उनसे ज्ञानानुग्रह के द्वारा आपका संरक्षण होता रहेगा। तात्पर्य्य यह निकला कि आप अपने सम्पूर्ण विज्ञानवाद के नानात्वप्रवाह को, भेदवादों को किसी एक अभिन्न तत्त्व के आधा पर प्रतिष्ठित करते हुए यदि विज्ञानवाद को सुव्यवस्थित कर देंगे त

वही विज्ञान-जो कि ज्ञानसहयोग से वञ्चित बनता हुआ स्वरूप से मृत्यु-पाशबन्धन का कारण बना रहता है—मानव के लिए अमृतत्वप्राप्ति का अन्यतम साधन प्रमाणित हो जायगा निश्चयेन प्रमाणित हो जायगा, यही इस आर्य-भारतवर्ष की वह ऋषिदृष्टि है, वेददृष्टि है, सनातनधर्म्म दृष्टि है, जो कि ज्ञान-अभाव अनेक कारणपरम्पराओं के निग्रहानुग्रह से शताब्दियों से ही नहीं अपितु सहस्राब्दियों से विलुप्तप्राय प्रमाणित हो रही है।

वैविध्यरूप से जिस 'विज्ञान' शब्द का अब तक यशोगान हुआ है उसी के सम्बन्ध में एक सुप्रसिद्ध वेदमन्त्र और उद्धृत हो रहा है, जिसके द्वारा विश्वेश्वर की इस विविधभावापन्ना विज्ञानविभूति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जाता है—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध', एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषा सर्वमिदं विभाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥
—ऋक्संहिता ८।५८।२।

मन्त्र का 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' यह अन्तिम चरण है। यही विशेषरूप से अवधेय है। "इस चराचर पाञ्चभौतिक विश्व में जो भिन्न भिन्न प्रकार का वैविध्य देखा सुना जा रहा है, वह सब कुछ किसी एक ही तत्त्व का वैभव है" इस अक्षरार्थ से सम्बन्ध रखने वाला यह चरण किसी एक ही को अनेक का सर्जक प्रमाणित कर रहा है। उस एक से समुत्पन्न यह अनेकभाव ही उसका विभूतरूप है, महिमारूप है, विभूतिरूप है, जिसके लिए-'वि बभूव सर्वम्' घोषणा हुई है। इससे हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि 'किसी एक को मूल मानकर अनेक की

ओर जाना ही' विज्ञान शब्द का सहज पारिभाषिक अर्थ है। इसे साथ ज्ञान शब्द की परिभाषा भी गतार्थ बन रही है। 'अनेक को आधार बना कर किसी एक की ओर जाना' ही ज्ञानशब्द सहज परिभाषा है। एकत्व को उद्देश्य मान कर उसके स्थान में कत्व का विधान करना जहाँ विज्ञानपक्ष है वहाँ अनेकत्व को मान कर तत्स्थान में एकत्व का विधान करना ही ज्ञानपक्ष 'उस एक ब्रह्म से इस अनेकभावात्मक विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई इस प्रश्न का समाधान करने वाला पक्ष ही विज्ञानपक्ष है एवं 'ये सब अनेकभाव अन्ततोगत्वा उस एक भाव में कैसे परि रहते हैं ?' इस प्रश्न का समाधान करने वाला पक्ष ही ज्ञानपक्ष 'यहाँ से यहाँ तक कैसी स्थिति है', यही विज्ञानपक्ष है, एवं 'यह वहाँ तक कैसी स्थिति है', यही ज्ञानपक्ष है। एक को अनेक जानना ही विज्ञान है, एवं अनेक को एक समझ लेना ही ज्ञान है। ही बीज मूल-शाखा-प्रशाखा-पर्ण-मञ्जरी-पुष्प-फल-आदि रूप में जिस प से परिणत हो रहा है, इस रहस्य का विश्लेषण करना ही विज्ञान एवं ये सब अन्ततोगत्वा उस एक बीज की ही विभूतियाँ हैं यह लना ही ज्ञान है। एकत्वप्रतियोगिक-अनेकत्वानुयोगिक विज्ञान सृष्टि है, यही सर्ग है यही सञ्चर है, और यही है विज्ञानविध स्वरूपनिष्कर्ष। अनेकत्वप्रतियोगिक—एकत्वानुयोगिक ज्ञान प्रतिसृष्टि है यही प्रतिसर्ग है, यही प्रतिसञ्चर है, और यही है ज्ञाना का स्वरूपनिष्कर्ष। इन दोनों दृष्टिकोणों को जान लेने के अनन्तर म के लिए फिर कुछ भी तो जानना शेष नहीं रह जाता। इसी भाव मूल बना कर भगवान् ने कहा है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
—गीता ७।२।

'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'—अर्थात् 'यह ब्रह्म ही यह सब कुछ है, सब कुछ बन रहा है' यह श्रुति ब्रह्म को उद्देश्य मान कर जहाँ 'इदं सर्वं' रूप विश्व का विधान करती हुई विज्ञानपक्ष का समर्थन कर रही है वहाँ— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—अर्थात् 'यह सब कुछ अन्ततोगत्वा ब्रह्म ही है' यह श्रुति विश्व को उद्देश्य मान कर ब्रह्म का विधान करती हुई ज्ञानपक्ष का समर्थन कर रही है। इसीप्रकार 'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं—यदिदं किञ्च' प्रजापति ही यह सब कुछ बना है, जो कि तुम देख रहे हो इत्यादि श्रुति जहाँ विज्ञानपक्ष का अनुगमन कर रही है वहाँ 'सर्वमु ह्येवेद प्रजापतिः'—यह सब कुछ अन्ततोगत्वा प्रजापति ही है इत्यादि श्रुति ज्ञानपक्ष का ही अनुगमन कर रही है। एवमेव 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति स्पष्ट शब्दों में जहाँ 'ज्ञान' स्वरूप को लक्ष्य बना रही है, वहाँ— 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' श्रुति विस्पष्ट शब्दों में ब्रह्म के आनन्दमय विज्ञानस्वरूप का यशोवर्णन कर रही है, जिस वर्णन का उपनिषच्छ्रुति ने महता समारम्भेण में जयघोष किया है कि—

"विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । विज्ञानमित्युपास्य" ।
—तैत्तिरीयोपनिषत्

जिस शास्त्रानुगत भारतीय 'विज्ञान' शब्द का अब तक परोगान हुआ है, एवं जिसका—'विविधं-ज्ञानं-विज्ञानम्' रूप से तटस्थलक्षण

व्यवस्थित हुआ है अब उसके स्वरूपलक्षण के सम्बन्ध में भी दो शब्द निवेदन कर दिए जाते हैं। नानाभावनिबन्धन इस भारतीय विज्ञान की दो स्वतन्त्र धारायें वैदिक विज्ञानाराम में प्रबलवेग से प्रवाहित हो रही हैं। सर्वप्रथम उन्हीं दोनों धाराओं को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए।

नानाभावात्मक स्वयं भूतविज्ञान प्रतिष्ठात्मक जिस ज्ञानतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है, क्या वह प्रतिष्ठातत्त्व शुद्ध निरपेक्ष ज्ञान रूप है? यह एक प्रासङ्गिक नूतन प्रश्न समुपस्थित हो पड़ा इसी प्रसङ्ग में हमारे सम्मुख। ऋषिदृष्टि ने इस प्रश्न का समाधान किया कि नहीं? यद्यपि भूतविज्ञान की अपेक्षा से इसको आधारतत्त्व ज्ञानात्मक माना जायगा एवं इसी दृष्टि से इसे-'ज्ञान' शब्द से व्यवहृत भी किया जायगा तथापि स्वयं अपने रूप से इस आधारभूत ज्ञानतत्त्व को भी तत्त्वतः माना जायगा विज्ञानात्मक ही। यदि आधारभूत ज्ञान विज्ञानधर्म्मा न रहता तो यह कदापि कथमपि विज्ञान का आधार बन नहीं सकता था। क्योंकि भूतविज्ञानसिद्धान्त के अनुसार एक सजातीय वस्तु ही अन्य सजातीय वस्तु की आधारभूमि बना करती है, धन सत्य है। यहाँ विज्ञानशास्त्र का सजातीयाकर्षणात्मक सहज सिद्धान्त है। केवल आधार, तथा आधेय मात्रों के पार्थक्य बोध की दृष्टि से ही पूर्व में यह कह देना पड़ा था कि—'आधारभूत ज्ञानतत्त्व वैविध्य पृथक् है, एवं विज्ञानतत्त्व वैविध्य से समन्वित है'। वस्तुतत्त्व तो बात में यही है कि, एक ही तत्त्व के दूसरे शब्दों में एक ही विज्ञान के विभिन्न दृष्टिकोण हैं-ज्ञानात्मक विज्ञान, एवं विज्ञानात्मक विज्ञान

क्या तात्पर्य्य निकला इस दृष्टिकोण से? । सुनिए! ज्ञानात्मक विज्ञान है, अब उसके लिए हमें अपने शास्त्र में नवीन पारिभाषिक श

की खोज करनी पड़ेगी। एवं विज्ञानात्मक जो विज्ञान है, उसके लिए भी एक नवीन ही पारिभाषिक शब्द का अन्वेषण करना पड़ेगा। खोज का काम कोई आपकी अथवा तो हमारी यथाज्ञाता मानवप्रज्ञा से सुलभ न बन सकेगा। अपितु इसके लिए भी ऋषिप्रज्ञा की ही शरण में आना पड़ेगा, जहाँ से यथायथत् आर्ष-पारिभाषिक शब्द सुलभतया प्राप्त हैं। निर्भ्रान्ता पुराणीप्रज्ञा के अन्वयव्यास्वरूप ऋषियों नें इन दोनों विज्ञानमार्गों के लिए क्रमशः दो शब्द व्यवस्थित किए हैं। ज्ञानात्मक विज्ञान के लिए नियत शब्द है—'ब्रह्म,' एवं विज्ञानात्मक विज्ञान के लिए नियत शब्द है—'यज्ञ'। ये ही वे स्वतन्त्र दो विज्ञानधाराएँ हैं, जिनका पूर्व में उपक्रम हुआ है।

तो अब दो प्रकार के विज्ञान आपके सम्मुख उपस्थित हुये-ब्रह्म-विज्ञानधारा एवं यज्ञविज्ञानधारा, के रूप से। आपने यह अनुभव किया होगा कि, आरम्भ में सापेक्ष विज्ञानशब्द की अपेक्षा को उपशान्ति के लिये जो ज्ञानशब्द आपके सम्मुख रक्खा गया था उसे शनैः शनैः स्मृतिगर्भ में विलीन करते हुये यहाँ आकर उस ज्ञानशब्द का पर्य्यवसान भी हमनें यों विज्ञानशब्द पर ही मान लिया। ब्रह्मशब्दानुगत ब्रह्मविज्ञान, एवं यज्ञशब्दानुगत यज्ञविज्ञान इन दोनों नवीन पारिभाषिक शब्दों के द्वारा अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि सम्पूर्ण विश्व का जो प्राकृतिक स्वरूप है, वह तो यज्ञविज्ञानात्मक है। इस यज्ञविज्ञानात्मक प्राकृतिक विश्व की जो मूल प्रतिष्ठा है, वही ब्रह्मविज्ञानात्मिका है। ब्रह्म-विज्ञान को प्रतिष्ठा बनाए बिना यज्ञविज्ञान जहाँ अपने स्वतन्त्र रूप से मृत्युमुख बन जाता है वहाँ एकाकी यज्ञविज्ञान कामासक्तिमूला लोकैषणाओं का समुत्तेजक बनता हुआ विश्वसंरक्षण के स्थान में विश्व-स्वरूपविनाश का ही कारण बन जाता है।

ऋषिदृष्टि न तो विश्वविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान का ही विरोध करती एवं न यज्ञविज्ञान के द्वारा समाश्रित भूतविज्ञान के साथ ही ऋषिप्रज्ञा का कोई असमाहित्य। यह तो विरोध करती है केवल प्रतिष्ठा-भावना का। ऋषिदृष्टि मानो हमें यही कह रही है कि,- 'तुम्हारा यह यज्ञविज्ञान, तदाधारेण प्रतिष्ठित भूतविज्ञान ब्रह्मविज्ञानात्मिका प्रतिष्ठा से वञ्चित होकर अपने प्रातिस्विक मृत्युरूप में परिणत न हो जाय, ऐसा मृत्युप्रधान तुम्हारा यह प्रतिष्ठाशून्य विज्ञान कहीं तुम्हारा संहार ही न कर डाले। अतएव प्रत्येक दशा में तुम्हें ब्रह्मविज्ञान के आधार पर ही भूतविज्ञान का आतान-वितान करते रहना चाहिये।"

तदित्थं हमें यह मान लेना पड़ा कि, ब्रह्मविज्ञान तथा यज्ञविज्ञान ये दो विवर्त भारतीय विज्ञानकाण्ड के स्वतन्त्र दो मूल स्तम्भ प्रमाणित हो रहे हैं। पुन: इस सम्बन्ध में हमें आप से यह आवेदन कर देना पड़ेगा कि, जिस प्रकार विज्ञान शब्द के अर्थसमन्वय के लिए स्वयं 'विज्ञान शब्द ही लक्ष्य बना था ठीक इसी प्रकार ब्रह्म, तथा यज्ञ, इन दोनों विज्ञानधाराओं के स्वरूपपरिचय के लिए भी अन्यत्र अनुधावन न कर स्वयं ब्रह्म-यज्ञ-शब्दों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा। कदापि इस दृष्टिकोण को विस्मृत न किया जा सकेगा कि, 'प्रत्येक तत्त्व का वाचक स्वयं शब्द ही उस वाच्य अर्थ का मौलिक चिरन्तन इतिहास अपने गर्भ में अन्तर्भुक्त रखता है, जोकि शब्देतिहासविज्ञान भी अन्यान्य विज्ञान विभूतियों के साथ आज दुर्भाग्यवश विलुप्त हो चला है।" हाँ, तो क्या अर्थ है 'ब्रह्म' शब्द का ?, एवं क्या अर्थ है 'यज्ञ' शब्द का ?। अन्वेषण कीजिए।

यह बहुत सम्भव है कि, यज्ञ शब्द का चिरन्तन इतिहासात्मक अर्थ भारतीय प्रज्ञा में आज तक निर्भ्रान्तरूप से येन केन रूपेण प्रतिष्ठित बन

रह गया हो, किन्तु ब्रह्म शब्द के ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण पारिभाषिक अर्थ से तो आज की भारतीय प्रज्ञा सर्वथा ही पराङ्मुख प्रमाणित हो रही है। कारण इस पराङ्मुखता का यही है कि, वेदशास्त्र का 'ब्रह्म' शब्द निगमभाव से अणुमात्र भी सम्बन्ध न रखता हुआ केवल अनुगमभाव से ही प्रधान सम्बन्ध रख रहा है। अब आप यह प्रश्न कर बैठेंगे कि ये निगम-अनुगम नाम के दो नवीन शब्द क्या अर्थ रखते हैं ?। प्रश्न समाधान के लिए यहाँ यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि— 'जो शब्द किसी नियत अर्थ का प्रतिपादन करता है, वह शब्द 'निगमशब्द' कहलाया है। एवं जो शब्द अपने वाच्यार्थ का अनेक स्थलों में समन्वित करने की क्षमता रखता है, वह शब्द 'अनुगमशब्द' कहलाया है'।

उदाहरण के लिए-प्राण-प्रजापति-षोडशी-चतुष्टय-त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-सप्तदश-आदि आदि शब्द किसी नियत अर्थ का संग्रह न करते हुए यहाँ जहाँ इन शब्दों के व्यञ्जनार्थ-किंवा वाच्यार्थ-किंवा शब्दार्थ समन्वित हो जाते हैं-उन सब स्थलों का समन्वय करते हुए सर्वत्र अनुगत बने रहते हैं, एवं यही इनका अनुगमभाव है। इसी दृष्टि से प्रजापति शब्द अग्नि-वायु-इन्द्र-वरुण धाता-आदित्यादिरूपेण से अर्थमय तत्त्वों का संग्राहक बन रहा है। अग्नि-वरुण-इन्द्र-सम्राट्-आदि आदि शब्द तद्वाच्य नियत अर्थों में ही निरूढ़ रहते हुए निगमशब्द हैं। प्रकृत का 'ब्रह्म' शब्द क्योंकि अनुगमभावात्मक है। अतएव एक स्थान पर यही ब्रह्मशब्द यदि 'मूल' के लिए प्रयुक्त है, तो दूसरे स्थान में भूतपञ्चित आत्मा के लिए भी ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। कहना न होगा कि वेदशास्त्र की रहस्यपूर्णता इन निगम-अनुगम-परिभाषाओं के अभिनिभूत हो

जाने का ही यह दुष्परिणाम है कि भारतवर्ष में विगत कुछ एक शता-ब्दियों में वेद के जितने भी भाष्यकार एवं टीकाकार हुए हैं, सभी ने वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक सुनिश्चित भी तत्त्ववाद को सन्देहनिवृत्ति के स्थान में सन्देहप्रवृत्ति का ही कारण प्रमाणित कर दिया है। एवं एकमात्र इसी प्रमादापराध से सभी युगों के लिए महान् उपयोगी भी ज्ञान-विज्ञानात्मक वेदशास्त्र हमारे लिए केवल अर्चनीया प्रतिमा ही बना रह गया है जिस इत्थंभूता वराक किंवा दुर्दशा के लिए प्रस्तुत 'ब्रह्म' शब्द का निदर्शन ही पर्य्याप्त होगा।

आज 'ब्रह्म' शब्द अपने पारिभाषिक अनुगमभावों से वञ्चित रहता हुआ ऐसा भ्रामक बन गया है कि सर्वत्र एकदेशया यह शब्द विश्वातीत—अखण्ड—अनवच्छिन्न—व्यापक—निर्गुण—निरञ्जन—निष्प्रपञ्च-किसी व्यापक तत्त्व की ओर ही भारतीय मुग्धप्रजा का ध्यान आकर्षित करने वाला रह गया है। यही कारण है कि—'ब्रह्म की उपासना करो, ब्रह्मार्पणभाव प्राप्त करो ब्रह्म ही सर्वाधार है' इत्यादि वाक्यों का सीधा सा समन्वय विश्वातीत अचिन्त्य—अनुपास्य—निराधार—तत्त्व पर ही परि-सम-प्त है। जिस विश्वातीत ब्रह्म का ज्ञान—उपासना—कर्म—भक्ति—विज्ञान-आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है जो बुद्धि—मन—इन्द्रिय—व्यापारों से सर्वथा परापराक्त है जो सर्वथैव निरपेक्ष है, ऐसे ब्रह्म का अग्रणी बना कर ही शास्त्रीय ब्रह्म' शब्द का समन्वय करने के लिए आतुर बने रहने वाले अभिनव व्याख्याताओं के इसप्रकार के व्यामोहन से ही आज भारतीय आर्यप्रजा आचारधर्म्मात्मक समस्त कर्म्मकलापों से अपने आपको तटस्थ—उन्मुक्त—ही प्रमाणित कर बैठी है जैसाकि—'कस्तौ वेदान्तिनः सर्वे' इत्यादि लोकप्रचलित आभाणक से स्पष्ट है।

हमें आश्चर्य हो रहा है नितान्त भावुकतापूर्णा उस भारतीयप्रज्ञा स्वंभूत भावव्यामोहन को सुन-सुन कर-जिसके कि सम्मुख प्रशस्य अनुगमात्मक सहज व्याख्यायें अवश्य विस्पष्ट शब्दों में स्वयं मूलग्रन्थों से उपलब्ध होती रहीं, और फिर भी यह भावुक प्रज्ञा 'ब्रह्म' शब्द के विविध-पारिभाषिक-अनुगमात्मक-समन्वयों में यों गजनिमीलिका का अनुगमन करती रही एवं किसी भी पारिभाषिक-मौलिक-निदानदृष्टि मूलक शब्दसमन्वय के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। उदाहरण के लिए गीता के 'ब्रह्म' शब्द को ही माध्यम बना लेना पर्याप्त होगा। गीता में एक स्थान पर 'ब्रह्म' शब्द के स्वरूपविश्लेषण से सम्बन्ध रखने वाला एक वाक्य आया है—'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्', जिसका अक्षरार्थ होता है—'ब्रह्मतत्त्व अक्षर से समुत्पन्न है'। अक्षर से 'उत्पन्न' होने वाला (ध्यान दीजिए-'समुद्भवम्'-पर) वस्तुविशेष ही 'ब्रह्म' नामक पदार्थविशेष, किंवा तत्त्वविशेष है। 'समुद्भवम्' शब्द 'समुत्पत्ति' से सम्बन्ध रखता है, उत्पत्ति का परम्परया विनाशी भूत-भौतिक प्रपञ्च से ही सम्बन्ध है। स्वतःस्वरूप से प्रमाणित है कि उक्त वाक्य में पठित अक्षर से उत्पन्न होने वाला 'ब्रह्म' तत्त्व किसी मूलभाव की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। गीता के व्याख्याता भाष्यकर्त्ता-एवं टीकाकार सम्प्रदायी आचार्यों ने प्रस्तुत वाक्य के 'ब्रह्म' शब्द का कैसा, और क्या समन्वय किया होगा?, इस प्रश्न के सम्बन्ध में—'वृद्धास्ते न विचारणीय चरिताः, तिष्ठन्तु हूं वदन्ताम्' पक्ष ही हमारे लिए श्रेयस्कर है।

"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥" गीता ३।१५।

आज का ही यह दुष्परिणाम है कि, भारतवर्ष में विगत कुछ एक शताब्दियों में वेद के जितने भी भाष्यकार, एवं टीकाकार हुए हैं, सभी ने वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक सुनिश्चित भी तत्त्ववाद को सन्देहनिवृत्ति के स्थान में सन्देहप्रवृत्ति का ही कारण प्रमाणित कर दिया है। एवं एकमात्र इसी महापराध से सभी युगों के लिए महान् उपयोगी भी ज्ञानविज्ञानात्मक वेदशास्त्र हमारे लिए केवल अर्चनीया प्रतिमा ही बना रह गया है जिस इत्थंभूता दशा, किंवा दुरवस्था के लिए प्रस्तुत 'ब्रह्म' शब्द का निदर्शन ही पर्याप्त होगा।

आज 'ब्रह्म' शब्द अपने पारिभाषिक अनुगमभावों से वञ्चित रहता हुआ ऐसा भ्रामक बन गया है कि सर्वत्र एकान्ततः यह शब्द विश्वातीत—अक्षर—अनवच्छिन्न—अद्वय—निर्गुण—निरञ्जन निर्विशेष किसी व्यापक तत्त्व की ओर ही भारतीय मुग्धप्रजा का ध्यान आकर्षित करने वाला रह गया है। यही कारण है कि—'ब्रह्म की उपासना करो, ब्रह्मदर्शनमात्र प्राप्य करो, ब्रह्म ही सर्वाधार है' इत्यादि वाक्यों का सीधा सा समन्वय विश्वातीत अचिन्त्य—अनुपास्य—निराधार—तत्त्व पर ही परिसमाप्त है। जिस विश्वातीत ब्रह्म का ज्ञान—उपासना—कर्म्म—भक्ति—विज्ञान—आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है जो बुद्धि—मन—इन्द्रिय—व्यापारों से सर्वथा परात्परातीत है जो सर्वथैव निरपेक्ष है, ऐसे ब्रह्म का अनुयायी बना कर ही शास्त्रीय 'ब्रह्म' शब्द का समन्वय करने के लिए आतुर बने रहने वाले अभिनव व्याख्याताओं के इसप्रकार के ब्रह्मव्यामोहन से ही आज भारतीय आर्षप्रजा आचारधर्म्मात्मक समस्त कर्म्मकलापों से अपने आपको तटस्थ—उन्मुक्त—ही प्रमाणित कर बैठी है, जैसाकि—'कलौ वेदान्तिनः सर्वे' इत्यादि लोकप्रचलित आभाणक से स्पष्ट है।

को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला वैकारिक विश्व का आधारभूत-प्रकृति भूत तत्त्व ही ब्रह्म पदार्थ है जो विश्वविज्ञानरूपा 'ज्ञान' उपाधि से व्यवहृत रहता हुआ भी विश्वविज्ञानप्रवृत्ति का मूलाधिष्ठान बनता हुआ स्वयं भी नानाभावनिबन्धन विज्ञानभाव से ही समन्वित है'। तभी तो पक्षविज्ञानापेक्षया महाज्ञानात्मक भी इस तत्त्व को 'महाविज्ञान' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है।

यह पूर्व में निवेदन किया जा चुका है कि, जो विश्वातीत, अतएव निरपेक्ष शुद्ध ज्ञान तत्त्व है, वह 'पदार्थ' सीमा से एकान्ततः असंस्पृष्ट रहता हुआ यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही निरूढा शब्द-मर्य्यादा से भी सर्वथा ही असंस्पृष्ट है। अतएव उसके लिए न ज्ञान शब्द है, न ज्ञाता शब्द है, नापि विज्ञान शब्द। प्रकृत में जिस ब्रह्म को हमनें 'ज्ञान शब्द से व्यवहृत किया है वह भी तत्त्वतः विज्ञानात्मक सापेक्ष ज्ञान शब्द से ही सम्बन्ध रख रहा है। अतएव विज्ञानात्मक ज्ञान ही इस महाज्ञानात्मक ज्ञानशब्द से व्यक्त हुआ है। स्मरण कीजिए विज्ञान शब्दानुबन्धी 'वि' उपसर्ग के हमनें पूर्व में विशेष, तथा विविध दो अर्थ किए हैं। इन दो उपसर्गों के कारण विशेषज्ञान भी विज्ञान कहला सकता है एवं विविध ज्ञान भी विज्ञान कहला सकता है। यहीं कुछ मोड़ा विशेषरूप से समझ लेना है। वैशिष्ट्य जहाँ अक्षरात्मक मूलब्रह्म का स्वरूपधर्म्म है, वहाँ वैविध्य विकारात्मक भूतविश्व का स्वरूप-धर्म्म माना गया है। सम्पूर्ण विशेषभावों को सम्पूर्ण नानाभावों को किंवा सम्पूर्ण विश्वमूर्तों को तत्तद्भूतों की प्रातिस्विक विशेषता से अक्षुण्ण बनाए रखने वाला आधारभूत अक्षरब्रह्म ही है और यही इसका विश्वापेक्षया महान् वैशिष्ट्य है। इसी महान् वैशिष्ट्य के कारण यह मूलभूत अक्षरब्रह्म

ब्रह्म वेदं सर्वम् ।
सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा जन्माद्यस्य यतः, तत्तु समन्वयात्
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

—गीता

इत्यादि आर्ष-श्रौत स्मार्त्त वचनों में पठित 'ब्रह्म' शब्द क्या कि मनुगममात्र से सम्बन्ध है ? इस प्रश्न का समाधान तत्तत्सम्बन्धी शब्दों से सर्वथा स्पष्ट है। 'सर्वम्' अनुगमी निर्देश से सम्बन्ध रखने का भूतब्रह्म की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, न कि किसी अविस्पष्ट विश्वातीत तत्त्व की ओर। 'यह सब कुछ ब्रह्म है' एवं ब्रह्म सब कुछ बना है' इत्यादि वाक्यों में पठित ब्रह्म शब्द का यही सब अर्थ है कि, "यह सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपञ्च अक्षर से उत्पन्न होने वाले किसी विशेषतत्त्व का ही रूपान्तरमात्र है। एवं इस तरह इस धर्म्म ही यह विशेषतत्त्व 'ब्रह्म' कहलाया है। अर्थात् सम्पूर्ण विश्व कारण ही है। इसी सहज अर्थ में उक्त वाक्यों के ब्रह्म शब्द का समन्वय रहा है। मान लेना चाहिए कि, विज्ञानशब्द के साथ किंवा विज्ञानात्म भूतभौतिकभावापन्न शब्दों के साथ जहाँ जहाँ 'ब्रह्म' शब्द उपात्त हो। वहाँ वहाँ सर्वत्र ब्रह्म शब्द पञ्चविज्ञानात्मक विश्वविज्ञान के प्रभव कारणब्रह्म का ही समर्थक बना रहेगा। इसी तथ्य के आधार पर हमें भूत 'ब्रह्मविज्ञान' शब्द के ब्रह्मशब्द का समन्वय ढूँढना पड़ेगा। इ समन्वयदृष्टि के आधार पर पूर्व स्थलों के 'ब्रह्म' शब्दों का यही निष्क निकलता कि "सोया एक नानाभावमयत्वक अव्यय बीजरूप से नानाभा

विशेषरूपेण विशिष्ट मान लिया गया है। इसी नित्यभाव की अपेक्षा से इस मूलब्रह्मात्मक ज्ञान को 'नित्य-विशिष्ट-ज्ञान' कहा गया है। इसी मूलब्रह्मज्ञान के साथ विज्ञान शब्द के विशिष्टभावसूचक 'वि' उपसर्ग का सम्बन्ध माना जायगा। एवं इसी आधार पर इस परब्रह्मात्मक सापेक्ष ज्ञान को—'विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानम्' इस प्रथम लक्षण के अनुसार 'विज्ञान' शब्द से व्यवहृत किया जायगा। कैसा है यह विज्ञान ? अनन्त विश्वविकारों को अनवरत उत्पन्न करता हुआ भी स्वस्वरूप से सर्वथा नित्य अतएव अपने इस स्वमहिमाभाव से सर्वथा नित्य 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' यह श्रुतिवचन इसी नित्य महिमारूप विशिष्टतम परब्रह्म का ही निरूपण कर रहा है। दूसरा लक्षण है—'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्' जिसका भौतिक विश्वात्मक 'यज्ञविज्ञान' से सम्बन्ध माना जायगा। यज्ञात्मक विकारविज्ञान ही वैकारिक नित्य पदार्थों का स्वरूपसम्पादक बनता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि, यह यज्ञविज्ञानात्मक विविध भावापन्न विकारविज्ञान ही वैकारिक-भूतों का प्रवर्तक है। 'विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिवचन द्वारा वैविध्यभावापन्न विकारविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। ब्रह्मविज्ञानात्मक ज्ञान केवल 'ज्ञातव्य' है, जिसका न उपासना से सम्बन्ध एवं न कर्माचरण से। अतएव ब्रह्मविज्ञान को जहाँ विजिज्ञास्य कहा जायगा, वहाँ यज्ञविज्ञान उपास्य माना जायगा जैसा कि सम्भवतः आगे चलकर स्पष्ट हो सकेगा। इसी लिए श्रुति ने—'विज्ञानाद्ध्येव ' इत्यादि रूप से उपक्रान्त यज्ञविज्ञान का—'विज्ञानमित्युपास्व' रूप से ही उपसंहार किया है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' रूप से ब्रह्मविज्ञान का जिज्ञासा से ही सम्बन्ध

ही 'विशेष तत्त्व प्रमाणित हो रहा है । और इसी विशेषता के अनुग्र से हम इस ब्रह्म को विशेषभावात्मक ब्रह्म कहेंगे एवं यही इसका 'वि ज्ञानम्' लक्षण विज्ञानतत्त्व होगा जो कि विविध ज्ञानात्मक विज्ञाति के समतुलन में अवश्य ही अपनी एक विशेष विशेषता रख रहा है।

क्या है ब्रह्मविज्ञानात्मक ज्ञान की वह विशेषता ? । उत्तर स्पष्ट है । यथावत् नानाभावों को-विशेषभावों को-मूतभावों को स्वाधार प्रतिष्ठित रख लेना क्या साधारण विशेषता है ? । नहीं । अपितु यह असा-रण विशेषता है, जो कि किसी भी भौतिक पदार्थ में उपलब्ध न होती । दूसरी सबसे बड़ी विशेषता है इस परब्रह्म की नित्यकूटस्था परब्रह्म विश्व का उपादान माना गया है उसी प्रकार से, जैसे कि दु लोह-मिट्टी-आदि हार-घर मलाई-किट्ट-जैंग-घटादि के उपादान गए हैं । देखते हैं कि दूध मलाई बन कर अपने दुग्ध स्वरूप से वि हो जाता है । जँगरूप में परिणत लोहा लोहा नहीं रह जाता । घट रू परिणत मिट्टी अपने मिट्टी के रूप से तिरोहित हो जाती है । क्या ही कार्य्यकारणभाव है इस उपादानभूत ब्रह्म का ? । नहीं । एक ही क्या ऐसे ऐसे अनन्त विश्वों को विकाररूप से उत्पन्न करता हुआ उपादानरूप वह परब्रह्म स्वस्वरूप से वैसा ही अक्षुण्ण बना रहत वैसा कि विश्वोत्पत्ति से पूर्व । यही तो हम परब्रह्म की वह नित्य म है जिसके आधार पर एकदेशी 'अविकृतपरिणामवाद' नामक सिर आत्मक हो पड़ा है । न यह विश्वोत्पत्ति से क्षीण होता न विश्वामा इसकी आत्मतनवृद्धि ही होजाती । इसी महिमा वैशिष्ट्य को लक्ष्य बना श्रुति ने कहा है—

एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते, नो कनीय इस नित्यमहिमा-अविकृतमहिमात्मक महान् वैशिष्ट्य से ही

किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥
—ऋक्सं १०।८१।४।

"वह ऐसा कौन सा जङ्गल था उस जङ्गल में वह ऐसा कौन सा वृक्ष था जिसे काट-छाँट कर यह द्यावापृथिवीरूप लोकभवन निर्म्मित हो गया ? । मैं (वेदमहर्षि) मनीषी–तत्त्वज्ञ विद्वानों से अपने मन से (प्रज्ञापूर्वक) ही यह पूँछ रहा हूँ कि जिस किसी उस तत्त्व ने–यों उस जङ्गल के वृक्ष से काट छाँट कर बन जाने वाले लोकों को अपने ऊपर धारण कर लिया उस का क्या स्वरूप है ? यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। ऋग्वेद ने प्रश्नमात्र का उत्थान किया, किन्तु कोई समाधान नहीं किया इस प्रश्न का। क्यों ?। क्या कोई उत्तर नहीं है इस प्रश्न का ?। अवश्य ही उत्तर है। एवं रहस्यगम्भीरा ऋषिभाषात्मिका मन्त्रभाषा ने उत्तरगर्भित प्रश्न के माध्यम से ही प्रश्न करने के साथ साथ ही उत्तर का भी स्पष्टीकरण कर दिया है। क्या व्यक्तभाषा में पृथक्रूप से प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता था ?। नहीं। इसलिए 'नहीं कि वन वृक्ष एवं वृक्ष के तक्षण इन तीन भावों में से वन तथा वृक्ष इन दो तत्त्वों का सर्वथा अनिरुक्त भाव से ही सम्बन्ध है। एवं अनिरुक्त-अव्यक्त भावोंके स्पष्टीकरण में निरुक्ता व्यक्ता वाक् सर्वथा असमर्थ है जब कि ऐसी निरुक्त व्यक्त वाक् उस तत्त्व के व्यक्तरूप तक्षणभाव का ही स्पष्टीकरण करने की क्षमता रखती है। सुप्रसिद्ध है कि–मन और वाक् के पारस्परिक अहं-श्रेयोरूप विवाद में प्रजापति ने अव्यक्त मन का ही पक्षपात किया। मन कहता था–मैं बड़ा हूँ इसलिए वाक् से कि, यदि मैं किंवा मेरा संकल्प न हो तो वाक् कुछ भी स्पष्ट करने में समर्थ न बने। उधर वाक् कह रही थी

है। क्योंकि यह केवल 'प्रातत्म्यविज्ञान' है, जब कि ब्रह्मविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित यज्ञविज्ञान उपास्य बन रहा है। इसप्रकार इन दोनों विज्ञानधाराओं के साथ क्रमशः विशेषभावापन्न प्रथम खण्ड, एवं विविधभावापन्न द्वितीय खण्ड का यथाम्यवस्थित समन्वय हो रहा है, जिसे विस्मृत कर सचमुच हमनें सभी कुछ विस्मृत कर दिया है।

बतलाया गया है कि, ब्रह्मविज्ञानात्मक मौलिक विज्ञान के लिए ही सापेक्ष 'ज्ञान' शब्द व्यक्त हुआ है। कैसा सापेक्ष विज्ञान ?, जो सम्पूर्ण विश्व का, किंवा यज्ञात्मक भूतों का मूलविज्ञान है। समस्त विश्व पाञ्चभौतिक विवर्त माना गया है। इस भौतिक जगत् की भौतिक परिभाषायें भौतिक समन्वय जिस मूल आधार पर सुव्यवस्थित हैं, विश्वाधारभूत-परनिबन्धन-वह मौलिक तत्त्व ही यहाँ 'ब्रह्मविज्ञान' कहलाया है, जो ब्रह्माण्ड का विस्पष्टतम वह पाध्यार्थ है, जिसकी पर्य्यवसानभूमि है-'परब्रह्म'।

तात्पर्य्य यह हुआ कि-परविज्ञान का ही नाम ब्रह्मविज्ञान' है। ज्ञानशास्त्रानुगता प्रश्नोत्तरविमर्श-चर्चा के प्रसङ्ग से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्तुत वक्तव्य के इस उपसंहारस्थल में हमसे यह प्रश्न हुआ था कि-वेद में-जो-'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस०' इत्यादि रूप से ब्रह्माण्ड आम्नात है, क्या उसका भी इसी परब्रह्म से सम्बन्ध है ?। इस प्रासङ्गिक प्रश्न का उस समय जो समाधान हुआ था, वह भी प्रसङ्गप्रिया समन्वित कर लेना चाहिए इसमें प्रश्न का तात्त्विकरूपेण यही उत्तर दिया था कि-नहीं, सर्वथा नहीं। 'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष०' इत्यादि मन्त्र तो तैत्तिरीय ब्राह्मण का है, जिसकी उत्थानिका हुई है स्वयं ऋग्वेद में-'किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस' इत्यादि रूपसे। मन्त्र का आविकल रूप यह है-

भिव्यक्त है। इसी अव्यक्तभाव के अनुरूप से अनिरुक्त प्रजापति
का ही विशेष नाम मान लिया गया है—'क' (ककार)। कः प्रजापति ?
त का यदि अनिरुक्त भाव से सम्बन्ध है तो उत्तर भी 'कः प्रजापतिः'
होगा।

"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" ॥

इत्यादि यजुर्मन्त्र के 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' ? इस प्रश्न का उत्तर
भी यही होगा। प्रश्नदशा में 'कस्मै' का अर्थ होगा 'किसके लिए हम
आहुति प्रदान करें ? एवं उत्तरदशा में 'कस्मै' का अर्थ होगा—'ककार
आकृति से युक्त प्रजापति के लिए हम आहुति प्रदान कर रहे हैं' यह।
यही उत्तरगर्भिता प्रश्नश्रुति कहलाएगी जिसका सुप्रसिद्ध केनोपनिषत्
में विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है। केनेषितं पतति प्रेषितं मनः — अथ न
किससे प्रेरित होकर हमारा इन्द्रिय मन विषयानुगत बनता है ? इस
प्रश्न का उत्तर भी 'केनेषितं पतति प्रेषितं—मनः' ही है, जिसका अर्थ
है—'ककार' नाम की अनिरुक्त व्याहृति से समन्वित हृदयस्थ अनिरुक्त
अन्तर्यामी प्रजापति की प्रेरणा से ही हमारा मन स्व व्यापार में समर्थ
बनता है। ठीक यही स्थिति 'किं स्विदवन क उ स वृक्ष आस' इत्यादि
उत्तरगर्भित प्रश्नात्मक मन्त्र के साथ समन्वित है। वह कौनसा वन
था ? प्रश्न का उत्तर होगा वह अनिरुक्त, अतएव 'किं' रूप ही वन था।
इसी प्रश्नात्मक मन्त्र का तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रश्नोत्थानपूर्वक जो समा-
धान हुआ है, वहाँ भी अनिरुक्तात्मक अनुगमभाव का ही प्राधान्य है।
लक्ष्य बनाइए उस समाधान मन्त्र को भी—

कि, मैं बड़ी हूँ तुम से इसलिए कि, यदि मैं न रहूँ तो तुम्हारा संकल्प केवल सकल्प ही बना रह जाय। मैं ही उसे व्यक्तरूप प्रदान करती हूँ। यही दोनों का अहमेवोभाव वा अहमहमिकालक्षणा वह प्रतिद्वन्द्विता थी जिसका ये दोनों ही परस्पर समन्वय करने में असमर्थ थे। दोनों निर्णयजिज्ञासा से प्रजापति की शरण में आते हैं। एवं प्रजापति यही निर्णय कर देते हैं कि, 'तुम दोनों में मन ही श्रेष्ठ है'। इस निर्णय से वाक् रुष्ट हो जाती है। और वह प्रजापति के सम्मुख अपना यह आक्रोश अभिव्यक्त कर डालती है कि-'अहव्यवाट्-एवाहं तुभ्यं भूयासम्' । अर्थात् हे प्रजापते ! मैं कभी आपके लिए हव्य का वहन न करूँगी। तात्पर्य्य मेरे व्यक्तरूप से आपको कभी आहुति नहीं मिलेगी। कहते हैं इसीलिए यज्ञ में प्रजापति के लिए उपांशुभाव से-तूष्णींभाव से-बिना मन्त्रोच्चारण के ही आहुति दी जाती है। (देखिए शत० ब्रा० १।४।५।१२)।

यह। ही रहस्यपूर्ण है वह व्याख्यान जिसके इसी अंश का हमें प्रकृत में उपयोग करना है कि, इतस्थ अन्तर्य्यामी नामक प्रजापति ही अनिरुक्त प्रजापति हैं। 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' इत्यादि सिद्धान्तानुसार सभी इन्द्रियों की भाँति वागिन्द्रिय का प्रवाह भी केन्द्रस्थ अनिरुक्त प्रजापति से बहिर्मुख ही है। अतएव बहिर्मुखा व्यक्त वाक् से केन्द्रस्थ इस हृद प्रजापति का स्वरूप कदापि स्पष्ट नहीं होसकता। इसी सहज- सिद्ध तत्त्व के आधार पर प्रजापति के स्वरूप-प्रदर्शन के लिए अनिरुक्तभावप्रधान वागुव्यवहार ही उपयुक्त माने गये हैं। 'क' कार अनि- ——— न ही संग्राहक है। 'कौन' इस शब्द से अव्यक्त भाव ही

व्यक्ति है। इसी अव्यक्तभाव के अनुबन्ध से अनिरुक्त प्रजापति साङ्केतिक नाम मान लिया गया है-'क' (ककार)। कः प्रजापति ?, र का यदि अनिरुक्त भाव से सम्बन्ध है तो उत्तर भी 'क. प्रजापति' होगा।

"हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" ॥

इत्यादि यजुर्मन्त्र के 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' ? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा। प्रश्नदशा में 'कस्मै' का अर्थ होगा 'किसके लिए हम हुति प्रदान करें ? एवं उत्तरदशा में 'कस्मै' का अर्थ होगा-'ककार हृति से युक्त प्रजापति के लिए हम आहुति प्रदान कर रहे हैं यह। ही उत्तरगर्भिता प्रश्नश्रुति कहलाएगी जिसका सुप्रसिद्ध केनोपनिषत् विस्तार से स्पष्ट एण हुआ है। केनेषित पतति प्रेषित मनः- अथ त किससे प्रेरित होकर हमारा इन्द्रिय मन विषयानुगत बनता है ?, इस रन का उत्तर भी 'केनेषितं पतति प्रेषितं-मन' ही है, जिसका अर्थ -'ककार' नाम की अनिरुक्त व्याहृति से समन्वित इत्यत्र अनिरुक्त मन्तर्यामी प्रजापति की प्रेरणा से ही हमारा मन स्व व्यापार में समर्थ बनता है। ठीक यही स्थिति 'किं स्विद्वन क उ स वृक्ष आस' इत्यादि उत्तरगर्भित प्रश्नात्मक मन्त्र के साथ समन्वित है। वह कौनसा वन था ? प्रश्न का उत्तर होगा वह अनिरुक्त, अतएव 'किं' रूप ही वन था। इसी प्रश्नात्मक मन्त्र का तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रश्नोत्थानपूर्वक जो समाधान हुआ है, वहाँ भी अनिरुक्तसमर्थ अनुगमभाव का ही प्राधान्य है। अतएव बनाइए इस समाधान मन्त्र को भी--

ब्रह्म वनं, ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्
—तै० ब्राह्मण ।

"ब्रह्म ही वह जङ्गल था, ब्रह्म ही वह वृक्ष था जिससे काट-छाँट कर यह विश्वभुवन बन गया। हे विद्वानों ! मैं अपने मन से ही यह कह रहा हूँ कि ब्रह्म ने ही इस भुवनों को अपने आधार पर धारण कर रक्खा है।" जैसा 'क', वैसा 'ब्रह्म'। 'मनसा पृच्छतेदु', एवं 'मनसा वि ब्रवीमि व' दोनों ही वाक्य मन-प्रधान अनिरुक्त अव्यक्त-भाव की ओर ही सङ्केत कर रहे हैं। यहीं यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि, क्या यहाँ के ब्रह्म शब्द भी परब्रह्मात्मक ब्रह्मविज्ञान के वाचक हैं ?। उत्तर इसमें कहा था कि नहीं सर्वथा नहीं। क्यों ? इसलिये कि वन मिन्न वस्तुतत्त्व है, वृक्षब्रह्म मिन्न वस्तुतत्त्व है, एवं कटा छँटा ब्रह्म पृथक् ही तत्त्व है। यह तीसरा ब्रह्म ही कर्मब्रह्म है जो वृक्षब्रह्म का एक अस्पृश्य प्रत्यंश है। एवं स्वयं वृक्षब्रह्म जिसकी दृष्टि से अस्पृश्य प्रत्यंश है, पहिला 'किंस्विद्वन' वाला वनब्रह्म है। अव्यय से अविभिन्न विश्वातीत परात्परब्रह्म ही 'वनब्रह्म' है, जिसे निरपेक्ष शुद्ध ज्ञानघन माना गया है। 'ब्रह्म वनम्' यह वाक्य जब भी हम बोलते हैं एक निःसीम भाव की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है। अनन्त-विस्तारात्मक वन का हमा ? प्रज्ञा को पता चल रहा है। यही स्थिति परात्पर की है। अतएव उसे 'वन' कहा जा सकता है जिससे अव्यय भी अभिन्न है। एवं इस वन से समझने मात्र के लिए हम 'वन' कह सकते हैं। यहाँ मानव बुद्धि परिसमाप्त है। अतएव 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' रूप से इस वन ब्रह्म से समतुलित अव्ययब्रह्म को बुद्धिसीमा से अमर्यादित मान लिया

। इसी प्रकार जब 'ब्रह्म स वृक्ष आस' का उच्चारण करते हैं तो रा प्रज्ञाक्षेत्र किसी सीमापरिच्छिन्न सीमाभाव की थाह पा लेता है। ह्म को मूलप्रकृतिरूप अक्षर ही यह ब्रह्म है, जिसे विश्वसीमानुबन्ध से ष' कह दिया जा सकता है। इस अक्षररूप वृक्षब्रह्म का कटा छँटा। व्यक्त क्षरब्रह्म ही हो सकता है जो अपने विकसित-प्रवर्ग्य-भाग से रभुवनों का निर्म्माण कर 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' रूप से राधार बन रहा है। यही-'ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्' । एग तीसरा व्यक्त क्षरब्रह्म है। तात्पर्य्य-तीनों ब्रह्मविवर्त्तों का संग्रह ते हुये वेदमहर्षि ने समस्त ब्रह्मवैभव का अपारपारीण स्वरूप आपके म्मुख रख दिया है। अब आप समन्वय कीजिए इन सर्वथा विभक्त वर्त्तों का परिभाषाओं के आधार पर कि-इनमें वनब्रह्म कौनसा है? स्वत्थस्वरूप वृक्षब्रह्म कौनसा है? एवं इस वृक्ष का कटा-छँटा ब्रह्मभाग नसा है?। यह समन्वयमार्ग तो आपकी प्रज्ञा पर ही अवलम्बित है।

स्थिति का थोड़ा और स्पष्टीकरण कर लिया जाय। स्पष्ट है कि सन्त्र 'ब्रह्म' शब्द विभक्त रूप से त्रिसंस्थानुबन्धी ही प्रमाणित हो रहा है। वनमम्' जहाँ श्रुति यह कहेंगे वहाँ इस विशाल जङ्गल की सत्ता नाते ही आपकी बुद्धि थक जायगी। एवं इस थका देने वाले 'वन' शब्द ी बुद्धि से परे रहने वाले विश्वातीत अनन्त की ओर स्वतः एव आपका ध्यान आकर्षित हो जायगा। क्योंकि 'वन' शब्द परात्परात्मना से अनुस्थित-सा शब्द है। इधर वृक्ष का सीमित आकार आपके प्रज्ञाक्षेत्र में सहजभाव से ही क्षपित हो पड़ता है। आगे चलिये। किन्तु इस सम्पूर्ण वृक्ष का उपयोग तो सर्वात्मना सम्भव नहीं है। अतएव मान लेना पड़ेगा कि वन, और वृक्ष दोनों ही उपयोग की सीमा से बहिर्भूत

है असम्पृष्ट है। अतएव च अरूपत्वमूर्त्ति महामायी विश्वेश्वर है तो उसकी सत्ता तो हमें स्वीकृत है। किन्तु हम अपने व्यवहारसम्बन्ध मायात्मक-कर्मसम्प्रदाय में कैसे इसका ग्रहण करें? यह समस्या हम सम्मुख उपस्थित हो जाती है। उसी का यह समाधान है कि, भरत्वावास का उदय होकर प्रवर्ग्यात्मक जो उच्छिष्ट भाग हमें उपलब्ध होता है एकमात्र वही मूलसत्ता का मूलाधार बन पाता है जो उच्छिष्टात्मक तत्त्व 'यज्ञोच्छिष्ट' कहलाया है, एवं-'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्' रूप से अथर्व ने जिसे भौतिक विश्व का उपादान माना है। जिस प्रवर्ग्यात्मक यज्ञोच्छिष्ट का यशोवर्णन करते हुये भगवान् ने कहा है कि-'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः' (गीता ३।१३)

यह उपयोगभाव ही क्योंकि हमारी मूलसंस्था का उपयोगी है। ऐसा तत्त्व-'क्षरः सर्वाणि भूतानि' के अनुसार 'क्षरभाव' ही हा सम है। यह समन्वय तो इतना स्पष्ट है कि यदि मानव अवधानपूर्वक बो प्रज्ञा से काम ले तो सम्पूर्ण समन्वय स्वयं उसके सम्मुख प्रस्फुटित पड़ता है। क्योंकि मन्त्रपुरुष तो-'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे-जायेव प उशती सुवासा' रूप से स्वयं ही तत्त्वचिन्तक प्रज्ञाशीलों के लिए कर दिया करते हैं अपना रहस्यात्मक तात्त्विक स्वरूप। इसके लि किसी भी व्याख्यान्तर के प्रति अनुधावन की कोई आवश्यकता नहीं स्वयं यही ऐसा शब्दशास्त्र है, मसावगुरण_क ऐसा प्रामाण्यशास्त्र है शुद्धबुद्धिसे तत्त्वोपनिषाल्मिका विमलबुद्धि से पारिभाषिक समन्वयपूर्वक कोई द्विजाति मानव इसकी शरण में आता है, तो यह स्वयं अपना स्व अभिव्यक्त कर दिया करता है। इसीलिये तो हमारी न केवल मान्यता ही है अपितु ऐसी दृढ़ आस्था है कि वेदशास्त्र के समन्वय के लि

किसी भी भाष्य-व्याख्या-आदि की कोई अपेक्षा नहीं है। यह स्वयं ही अपनी व्याख्या है। वेदशास्त्र स्वयं ही सम्पूर्ण वास्तविक व्याख्याएँ स्वगर्भ निहित रखता है।

अप्रमतविपश्चचिंतन प्रासङ्गिकविप्रयोग। अब हमें ब्रह्मविज्ञान, तथा प्रविज्ञान, इन दोनों शब्दों को अपनी प्रक्रान्त चर्चा का केन्द्र बना लेना चाहिए एवं इसी आधार पर विज्ञानशब्द के समन्वय प्रयास में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। ब्रह्मविज्ञान' के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ पूर्व-सम्प्रमासार, 'परब्रह्म' हुआ। तो क्या क्षर की यह शक्ति है कि वह अपने से अभिन्न अक्षर, तथा अव्यय को छोड़ कर स्वयं स्वतन्त्र रूप से रह सके ?। क्या मान लेंगे आप ऐसा ? । नहीं। जिस प्रकार यह ब्रह्म को छोड़ कर क्षणमात्र भी स्व स्वरूप से समवस्थित नहीं रह सकता, एवमेव क्षरात्मक ब्रह्म भी अक्षर और अव्यय की उपेक्षा कर एक क्षण भी स्व स्वरूप में अवस्थित-प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। क्या तात्पर्य्य निकला इस वाक्य-सन्दर्भ से ? । केवल 'क्षरविज्ञान का ही नाम 'ब्रह्मविज्ञान' नहीं है। अपितु यह क्षरविज्ञान नित्यसापेक्ष अपने अव्यय तथा अक्षर के साथ समन्वित होकर तीन अवान्तर धाराओं में परिणत होकर ही आपके सम्मुख उपस्थित हो सकेगा, जिसका निष्कर्षार्थ यह निकलेगा कि— "अव्ययविज्ञान-अक्षरविज्ञान-एवं क्षरविज्ञान, इन तीनों विज्ञानों का समन्वित रूप ही ब्रह्मविज्ञान है।" निष्कल परात्पर से अभिन्न पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल क्षर, इन सोलह कलाओं से कलाप अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक स्वयंभूत सर्वात्मक ब्रह्मविज्ञान को ही 'षोडशीपुरुष' कहा जायगा, यह षोडशीपुरुष ही 'प्रजापति' कहलाएगा,

हैं, अमम्पृप्त हैं। अतएव व अरवत्यमूर्ति महामायी विश्वेश्वर है तो उसकी सत्ता तो हमें स्वीकृत है। किन्तु हम अपने व्यवहारात्मक-भावात्मक–कर्मकाण्ड में कैसे इसका ग्रहण करें? यह समस्या हम सम्मुख उपस्थित हो जाती है। उसी का यह समाधान है कि, अश्वत्थब्रह्म का सर्वस्व होकर प्रवर्ग्यात्मक जो उच्छिष्ट भाग हमें उपल होता है एकमात्र वही मूलसत्ता का मूलाधार बन पाता है जो उच्छिष्टात्मक तत्त्व 'यज्ञोच्छिष्ट' कहलाता है, एवं–'उच्छिष्टाज्जज्ञि सर्वम्' रूप से अथर्व ने जिसे भौतिक विश्व का उपादान माना है। जिस प्रवर्ग्यात्मक यज्ञोच्छिष्ट का परोक्षवर्णन करते हुये भगवान् ने क है कि–'यज्ञशिष्टाशिन सन्तो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः' (गीता ३।१३)

यह तत्त्वसमाधान ही क्योंकि हमारी मूलसंस्था का उपयोगी है, ऐसा तत्त्व 'परः सर्वाणि भूतानि' के अनुसार 'परात्पर' ही हो सक है। यह समन्वय तो इतना स्पष्ट है कि यदि मानव अवधानपूर्वक श्र प्रज्ञा से काम ले तो सम्पूर्ण समन्वय स्वयं उसके सम्मुख प्रस्फुटित पड़ता है। क्योंकि वेदपुरुष तो–'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे-जायेव प उशती सुवासा' रूप से स्वयं ही तत्त्वचिन्तक महाशीलों के लिये अ कर दिया करते हैं अपना रहस्यात्मक वास्तविक स्वरूप। इसके लि किसी भी व्याख्यान्तर के प्रति अनुधावन की कोई आवश्यकता नहीं स्वयं यही ऐसा श्रुतशास्त्र है, प्रसादगुणयुक्त ऐसा भाष्यकशास्त्र है शुद्धबुद्धिसे तत्त्वोन्मुखात्मिका विमलबुद्धि से पारिभाषिक समन्वयपूर्वक कोई द्विजाति मानव इसकी शरण में जाता है तो वह स्वयं अपना स्व अभिव्यक्त कर दिया करता है। इसीलिये तो हमारी न केवल मान्य ही है, अपितु ऐसी दृढ़ धारणा है कि 'वेदशास्त्र के समन्वय के लि

किसी भी भाष्य-व्याख्या-आदि की कोई अपेक्षा नहीं है। वेद स्वयं ही अपनी व्याख्या है। वेदशास्त्र स्वयं ही सम्पूर्ण तात्त्विक व्याख्यायें स्वगर्भ में निहित रखता है।"

अलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेतिवृत्तेन । अब हमें ब्रह्मविज्ञान, तथा क्षरविज्ञान, इन दोनों शब्दों को अपनी मननान्त चर्चा का केन्द्र बना लेना चाहिये एवं इसी आधार पर विज्ञानशब्द के समन्वय प्रयास में प्रवृत्त हो जाना चाहिये। ब्रह्मविज्ञान' के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ पूर्व-सन्दर्भानुसार, 'परब्रह्म' हुआ। तो क्या क्षर की यह शक्ति है कि वह अपने से अभिन्न अक्षर, तथा अव्यय को छोड़ कर स्वयं स्वतन्त्र रूप से रह सके ?। क्या कहना होंगे आप ऐसा ? । नहीं । जिस प्रकार रस बल को छोड़ कर क्षणमात्र भी स्व स्वरूप से समवस्थित नहीं रह सकता, एवमेव क्षरात्मक बल भी अक्षर और अव्यय की उपेक्षा कर एक क्षण भी स्व स्वरूप में व्यवस्थित-प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। क्या तात्पर्य्य निकला इस वाक्य-सन्दर्भ से ? । केवल 'क्षरविज्ञान का ही नाम 'ब्रह्मविज्ञान' नहीं है। अपितु यह क्षरविज्ञान नित्यसापेक्ष अपने अव्यय तथा अक्षर के साथ समन्वित होकर तीन अवान्तर धाराओं में परिणत होकर ही आपके सम्मुख उपस्थित हो सकेगा, जिसका निष्कर्षार्थ यह निकलेगा कि—
"अव्ययविज्ञान-अक्षरविज्ञान-एवं क्षरविज्ञान, इन तीनों विज्ञानों का समन्वित रूप ही ब्रह्मविज्ञान है।" निष्कल परात्पर से अभिन्न पञ्चकल अव्यय पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल क्षर, इन षोडश कलाओं से स्वरूप अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक धर्मभूत सर्वात्मक ब्रह्मविज्ञान को ही 'षोडशीपुरुष' कहा जायगा, यह षोडशी पुरुष ही 'प्रजापति' कहलाएगा,

प्रजापतिविज्ञान ही 'प्रजाविज्ञान' कहलाएगा एवं इस प्रजाविज्ञान को आधार मान कर यज्ञविज्ञान का प्रतिपादन करने शास्त्र ही 'प्राजापत्यशास्त्र' कहलाएगा और इसी प्राजापत्यशास्त्र को हम 'वेदशास्त्र' कहेंगे, जिसकी सीमा में त्रिधारात्मक प्रजाविज्ञानात्मक ज्ञान, तथा अनेकधारात्मक यज्ञविज्ञानात्मक विज्ञान यथास्वरूप यथानुरूप सुव्यवस्थित बने हुये हैं।

प्रजाविज्ञान का संक्षिप्त निदर्शन आपके सम्मुख उपस्थित किया गया। अब दो शब्दों में ब्रह्मविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित विश्वविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान का समन्वय कर लेना भी प्रासङ्गिक ही माना जाएगा। अव्ययविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित अक्षरविज्ञान के द्वारा क्षरविज्ञान के माध्यम से जो कोई और नवीन विज्ञान उत्पन्न होगा उसे ही वहाँ 'यज्ञविज्ञान' कहा जाएगा। वस्तुतत्त्व का समन्वय इतना सरल नहीं है, जितना कि प्रश्न का स्वरूप सरल है। इसी प्राजापत्यविज्ञान के स्वरूपान्वेषण के लिये महर्षि भारद्वाजादि ने अपनी परमायु आयु के चार सौ वर्ष समाप्त किये हैं। तथापि-'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' न्याय से बहुत सम्भव है भारतीय आर्यप्रजा आज भी इस विग्दर्शन के द्वारा भी अपने इस चिरन्तन शाश्वत् सत्य की ओर आकर्षित हो सके जिस आकर्षण के बिना इसका कोई भी स्वरूप शेष नहीं रह जाता।

सम्भवतः इसी तथ्य को लक्ष्य में रखते हुए संस्थान के परामर्श मन्त्री श्री वासुदेवशरण महाभाग ने संस्थान के पाक्षमासिक ज्ञानसत्रों में इसप्रकार के प्रश्नोत्तरविमर्शों के लिए बलपूर्वक हमें प्रवृत्त किया है। स्पष्ट है कि यह पद्धति कोई विशिष्ट ...

पद्धति का तो आस्तिक प्रजा के मनःशरीरभावप्रधाना तामूलसिक उपासनों से सम्बन्ध रखने वाली अनुरञ्जनभावप्रधाना पौराणिकी कथा शैली से ही प्रधान सम्बन्ध है। प्राज्ञापत्यशास्त्र कदापि दुर्लभमुखा आपात रमणीया शैली से गतार्थ नहीं बन सकता। यहाँ तो अनन्यनिष्ठानुगत चिरन्तन स्वाध्याय हा एकमात्र शरणीकरणीय है। अमरूम तप तथा श्रम के द्वारा अध्यवसायपूर्वक अरामर्व्यसनत्रबम् यावज्जीवन प्रकान्त रहने वाली स्वाध्यायनिष्ठा ही इस दिशा में वास्तविक तत्त्वसमन्वयानुगता मानी गई है, जबकि इसके सम्बन्ध में भी इस जन्म में अथवा उत्तरजन्म में-कब समन्वयसंसिद्धि प्राप्त होगी ? प्रश्न अचिन्त्य ही बना रहता है—

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'–

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'।

जैसाकि स्पष्ट किया गया है—ब्रह्मविज्ञान को मूल में प्रतिष्ठित किए बिना यज्ञविज्ञान एवं तदनुप्राणित भूतविज्ञान निर्माण तथा संरक्षण के स्थान म ध्वंस विनाश का ही कारण बन जाया करता है। ऐसा ही कुछ घटित विघटित हो पड़ा था त्रेतायुगात्मक त्रेतयुग से भी पूर्व के साध्य-युग में। भूतविज्ञान-कौशल की परम सीमा पर पहुँच जाने वाली तत्य ग की साध्यजाति ने ब्रह्मविज्ञानप्रतिष्ठा की उपेक्षा कर, किंवा उससे अपरिचित रह कर यज्ञ को ही विश्वस्वरूप का अन्यतम महान् एकम त्र आधार मानते हुए यज्ञ से ही यज्ञ का वितान-विस्तार आरम्भ कर देने की महती भ्रान्ति कर डाली थी जिसका—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्' इत्यादि से स्पष्टीकरण हुआ है। उसी का यह दुष्परिणाम हुआ था कि, अन्ततोगत्वा विशुद्ध भूतविज्ञान में आसक्त अभिनिविष्ट यह जाति अन्ततोगत्वा इन भूतविज्ञानविमुग्धों के सर्वस्वसंहारक अन्या

प्रजापतिविज्ञान ही 'ब्रह्मविज्ञान' कहलाएगा एवं इस प्रजापति
ब्रह्मविज्ञान को आधार मान कर यज्ञविज्ञान का प्रतिपादन करने वा
शास्त्र ही 'प्राजापत्यशास्त्र' कहलाएगा और इसी प्राजापत्यशास्त्र
हम 'वेदशास्त्र' कहेंगे, जिसकी सीमा में त्रिधारात्मक ब्रह्मविज्ञानात्म
ज्ञान, तथा अनकधारात्मक यज्ञविज्ञानात्मक विज्ञान यथास्वरूप यथानु
सुव्यवस्थित बने हुये हैं।

ब्रह्मविज्ञान का संक्षिप्त दिग्दर्शन आपके सम्मुख उपस्थित कि
गया। अब दो शब्दों में ब्रह्मविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित विश्वविज्ञा
नात्मक यज्ञविज्ञान का समन्वय कर लेना भी प्रासङ्गिक ही माना जायगा
अव्ययविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित अक्षरविज्ञान के द्वारा क्षरविज्ञा
के माध्यम से जो कोई और नवीन विज्ञान उत्पन्न होगा, उसे ही य
'यज्ञविज्ञान' कहा जायगा। यज्ञतत्त्व का समन्वय उतना सरल नहीं है
जितना कि ब्रह्म का स्वरूप सरल है। इसी प्राजापत्यविज्ञान के व्यवस्था
स्थापना के लिये महर्षि भारद्वाजादि ने अपनी परमायु आयु के चार
अप समाप्त किये हैं। तथापि-'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो
भयात्' न्याय से बहुत सम्भव है भारतीय आर्षप्रज्ञा आज भी इस दिग्
दर्शन के द्वारा भी अपने उस चिरन्तन शाश्वत् सत्य की ओर आकर्षि
हो सके जिस आकर्षण के बिना इसका कोई भी स्वरूप शेष नहीं
रह जाता।

सम्भवतः इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखते हुए संस्थान के आदरा
मन्त्री श्री वासुदेवशरण महाभाग ने संस्थान के पाण्मासिक ज्ञानसत्रों
इसप्रकार के प्रश्नोत्तरविमर्श के लिए यत्नपूर्वक हमें प्रवृत्त किया है
स्पष्ट है कि यह पद्धति कोई विशिष्ट आपपद्धति नहीं है। फलित का

पद्धति का तो आस्तिक प्रजा के मनःशरीरभावप्रधाना तात्कालिक उपासनों से सम्बन्ध रखने वाली अनुरञ्जनभावप्रधाना पौराणिकी कथा शैली से ही प्रधान सम्बन्ध है। प्राणायामशास्त्र कदापि इत्थंभूता आपात रमणीया शैली से गतार्थ नहीं बन सकता। यहाँ तो अनन्यनिष्ठानुगत चिरन्तन स्वाध्याय ही एकमात्र शरणीकरणीय है। अतएव तप तथा श्रम के द्वारा अध्यवसायपूर्वक जरामर्य्यंसत्रवत् यावज्जीवन प्रक्रान्त रहने वाली स्वाध्यायनिष्ठा ही इस दिशा में वास्तविक तत्त्वसमन्वयानुगता मानी गई है, जबकि इसके सम्बन्ध में भी इस जन्म में, अथवा परजन्म में-कब समन्वयसंसिद्धि प्राप्त होगी ? प्रश्न अचिन्त्य ही बना रहता है—

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'—
'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'।

जैसाकि स्पष्ट किया गया है—ब्रह्मविज्ञान को मूल में प्रतिष्ठित किए बिना यज्ञविज्ञान, एवं तदनुप्राणित भूतविज्ञान निम्माण तथा संरक्षण के स्थान में ध्वंस-विनाश का ही कारण बन जाया करता है। ऐसा ही कुछ घटित विघटित हो पड़ा था देवयुगात्मक वेदयुग से भी पूर्व के साध्ययुग में। भूतविज्ञान-कौशल की चरम सीमा पर पहुँच जाने वाली तद्युग की साध्यजाति ने ब्रह्मविज्ञानप्रतिष्ठा की उपेक्षा कर, किंवा उससे अपरिचित रह कर यज्ञ को ही विश्वस्वरूप का आत्यन्तिक महान् एकमात्र आधार मानते हुए यज्ञ से ही यज्ञ का वितान-विस्तार आरम्भ कर देने की महती भ्रान्ति कर डाली थी जिसका—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्' इत्यादि से स्पष्टीकरण हुआ है। उसी का यह दुष्परिणाम हुआ था कि, अन्ततोगत्वा विशुद्ध भूतविज्ञान में आसक्त अभिनिविष्ट यह जाति अन्ततोगत्वा इन भूतविज्ञानविजृम्भणों के सर्वसंहारक अध्या

वाग्नि में हा आहुत हो गई। जो शेष बचे रह गए, उन्हें भगवान् ब्रह्म के द्वारा यह सहज उद्बोधन सूत्र उपलब्ध हुआ कि—"क्योंकि तुमने पञ्चात्मक क्षणिक अवरविज्ञान को ही सर्वस्व मानते हुए सर्वाधारमूल ब्रह्मविज्ञान की उपेक्षा की थी। अतएव ज्ञानप्रतिष्ठाशून्य तुम्हारा यह मूल-विज्ञान तुम्हारे सर्वनाश का ही कारण बन गया। इसी व्यामोहन में आसक्त—व्यासक्तमना बने रहने के कारण तुम अपने आधारशून्य विज्ञान के द्वारा किसी भी अभ्युदय-निःश्रेयस-प्रवर्त्तक निश्चित लक्ष्य के अनुगामी न बन सके। अपितु सृष्टिस्वरूप समन्वय के लिए अनवरत व्यग्र बने रहने वाले तुम विज्ञानाभिनिविष्टों ने कभी पानी को विश्व का मूल माना, कभी अहोरात्र को मूल माना कभी आकाश को मूल बतलाया, कभी सत् को तो कभी असत् को, तो कभी सदसत् वादों की घोषणा की। कभी रजोगुण का मूलप्रवर्त्तक मान बैठे। कभी आवरणात्मक तम का ही कारण बतलाने लग पड़े। तो कभी सापेक्षवादमूलक अपरभाव ही तुम्हारी दृष्टि में सृष्टि का मूल बन बैठा। इसप्रकार ब्रह्मप्रतिष्ठा से वञ्चित इन अम्भोवाद—अहोरात्रवाद—व्योमवाद—सद्वाद—असद्वाद—सद्-सद्वाद—रजोवाद—आवरणवाद—अपरवाद—आदि आदि विविध वादों का अनुगमन करते हुए इतस्ततः दन्द्रम्यमाण ही बने रहे। हम चाहते हैं कि, अब तुम सर्वाधारमूत ब्रह्मविज्ञानात्मक सिद्धान्तवाद को ही अपने इन विविध विज्ञानवादों की मूलप्रतिष्ठा बनाओ, जिस आधार के द्वारा सम्पूर्ण नानावाद सुसमन्वित बन जाया करते हैं। एवं बस दशा में मृत्युमय भी ये विज्ञानवाद अमृतनिष्पत्ति के कारण प्रमाणित हो जाया करते हैं। यही ब्रह्मविज्ञानात्मक सिद्धान्तवाद विज्ञानवाद के अन्त हो जाने पर आगे प्रक्रान्त होने वाले वेदयुगात्मक देवयुग में प्रतिष्ठित हुआ,

जिस इस रहस्यपूर्ण भारतीय इतिवृत्त के संस्मरण से भी आज की भारतीय प्रज्ञा पराङ्मुख बन चुकी है।

ब्रह्मविज्ञान के आधारभूत यज्ञविज्ञान के समन्वय के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। उपर्युक्त त्रय-भाव ही ब्रह्म का समन्वयाय है। एक ही तत्त्व का तीन धाराओं में विभक्त हो जाना ही उसका उपर्युक्त त्रय है। एवं यही उपर्युक्त त्रय ब्रह्म का 'ब्रह्मत्व' है। 'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम् त्रयं सदेकमयमात्मा' इत्यादि श्रौत सिद्धान्तानुसार एक का तीन भाव में परिणत होते हुए भी एक ही भाव में विद्यमान रहना ब्रह्म का ब्रह्मत्व है। तात्पर्य्य यही हुआ कि एक ही मौलिक तत्त्व का साक्षी निमित्त एवं उपादान, इन तीन रूपों में परिणत हो जाना ही उस तत्त्व का उपर्युक्त त्रय है जिसे दर्शनभाषा में 'विवर्त्त' कहा गया है, पारिभाषिक दृष्टि से जो विवर्त्त 'विभूति'—'महिमा'—आदि नामों से उपवर्णित है। अव्ययब्रह्म की अपेक्षा से सम्पूर्ण विश्व उस अव्ययब्रह्म की साक्षी में प्रतिष्ठित है। किन्तु यह साक्षीभूत अव्ययब्रह्म न तो विश्व का निमित्त है, न कर्त्ता है। अर्थात् न तो यह असमवायी कारण ही बनता, एवं न उपादान-कारणात्मक समवायी कारण ही बनता जैसा कि—'न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते, न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते'—'न करोति न लिप्यते' इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त वचनों से प्रमाणित है। अक्षरब्रह्म विश्व का निमित्तकारण बनता है, जैसा कि—'यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति' से स्पष्ट है। एवं तीसरा क्षरब्रह्म विश्व का उपादानकारण बनता है, जैसा कि—'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'—'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इत्यादि श्रुति-स्मृति से प्रमाणित है। ब्रह्म-विज्ञानान्तर्गत विश्वसाक्षी अव्यय, विश्वनिमित्त अक्षर, एवं विश्वोपादान

दाग्नि में ही आहुत हो गई। जो शेष बचे रह गए, उन्हें भगवान् ब्रह्म के द्वारा यह सहज उद्बोधन सूत्र उपलब्ध हुआ कि–"क्योंकि तुमने यज्ञात्मक क्षणिक क्षरविज्ञान को ही सर्वस्व मानते हुए तदाधारभूत ब्रह्मविज्ञान की उपेक्षा को थी। अतएव ज्ञानप्रतिष्ठाशून्य तुम्हारा यह मूल-विज्ञान तुम्हारे सर्वनाश का ही कारण बन गया। इसी व्यामोहन में आसक्त-उपासक्तमना बने रहने के कारण तुम अपने आधारशून्य विज्ञान के द्वारा किसी भी अभ्युदय–निःश्रेयस–प्रवर्त्तक निश्चित लक्ष्य के अनुगामी न बन सके। अपितु सृष्टिस्वरूप समन्वय के लिए अनवरत व्यग्र बने रहने वाले तुम विज्ञानाभिनिवेशों में कभी पानी को विश्व का मूल माना, कभी अहोरात्र को मूल माना, कभी आकाश को मूल बतलाया, कभी सत् को तो कभी असत् को तो कभी सदसत् दोनों की घोषणा की। कभी रजोगुण को मूलप्रवर्त्तक मान बैठे। कभी आवरणात्मक तम को ही कारण बतलाने लग पड़े। तो कभी सापेक्षवादमूलक अपरभाव ही तुम्हारी दृष्टि में सृष्टि का मूल बन बैठा। इसप्रकार ब्रह्मविद्या से वञ्चित इन अम्भोवाद–अहोरात्रवाद–व्योमवाद–सद्वाद–असद्वाद–सद्-सद्वाद–रजोवाद–आवरणवाद–अपरवाद–आदि आदि विविध वादों का अनुगमन करते हुए स्वस्वतः चन्क्रम्यमाण ही बने रहे। हम चाहते हैं कि अब तुम सर्वाधारभूत ब्रह्मविज्ञानात्मक सिद्धान्तवाद को ही अपने इन विविध विज्ञानवादों की मूलप्रतिष्ठा बनाओ जिस आधार के द्वारा सम्पूर्ण नानावाद सुसमन्वित बन जाया करते हैं। एवं बस इस में मृत्युमय भी ये विज्ञानवाद अमृतनिष्पत्ति के कारण प्रमाणित हो जाया करते हैं। यही ब्रह्मविज्ञानात्मक सिद्धान्तवाद विज्ञानवाद के अन्त हो जाने पर आगे प्रक्रान्त होने वाले वेदयुगात्मक वेदयुग में प्रतिष्ठित हुआ

जिस इस रहस्यपूर्ण भारतीय इतिवृत्त के संस्मरण से भी आज की भारतीय प्रज्ञा पराङ्मुख बन चुकी है।

ब्रह्मविज्ञान के आधारभूत यज्ञविज्ञान के समन्वय के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। त्रयी ब्रह्म-भाव ही ब्रह्म का समन्वयार्थ है। एक ही तत्त्व का तीन धाराओं में विभक्त हो जाना ही उसका त्रयी रूप है। एवं यही त्रयी रूप ब्रह्म का 'ब्रह्मत्व' है। 'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम् त्रयं सदेकमयमात्मा' इत्यादि श्रौत सिद्धान्तानुसार एक का तीन भाव में परिणत होते हुए भी एक ही भाव में विद्यमान रहना ब्रह्म का ब्रह्मत्व है। तात्पर्य्य यही हुआ कि एक ही मौलिक तत्त्व का साक्षी निमित्त एवं उपादान, इन तीन रूपों में परिणत हो जाना ही उस तत्त्व का त्रयी रूप है जिसे दर्शनभाषा में 'विवर्त्त' कहा गया है, पारिभाषिक दृष्टि से जो विवर्त्त 'विभूति —'महिमा'-आदि नामों से उपवर्णित है। अव्ययब्रह्म की अपेक्षा से सम्पूर्ण विश्व उस अव्ययब्रह्म की साक्षी में प्रतिष्ठित है। किन्तु यह साक्षीभूत अव्ययब्रह्म न तो विश्व का निमित्त है, न कर्त्ता है। अर्थात् न तो यह असमवायी कारण ही बनता, एवं न उपादान-कारणात्मक समवायी कारण ही बनता जैसा कि—'न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते'–'न करोति न लिप्यते' इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त वचनों से प्रमाणित है। अक्षरब्रह्म विश्व का निमित्तकारण बनता है, जैसा कि–'तथा अक्षराद्विविधा सौम्य ! भावा प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति' से स्पष्ट है। एवं तीसरा क्षरब्रह्म विश्व का उपादानकारण बनता है, जैसा कि—'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'– 'क्षर सर्वाणि भूतानि' इत्यादि श्रुति-स्मृति से प्रमाणित है। ब्रह्म-विज्ञानान्तर्गत विश्वसाक्षी अव्यय विश्वनिमित्त अक्षर, एवं विश्वोपादान

चर तीनों विभिन्न भावों के लिए क्रमशः विश्वम्भर विश्वकर्त्ता-विश्वा
ये तीन पारिभाषिक नाम व्यवहृत करने पड़ेंगे जो उपनिषदों में म
तत्र समन्वित हैं। 'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर' के अ
सार साक्षी अव्यय ही 'विश्वम्भर' कहलाएगा। 'ब्रह्मा देवानां प्रथ
सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता' के अनुसार निमित्त भ
'विश्वकर्त्ता' माना जायगा एवं—'ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्'-
'विश्वात्मा विश्वकर्मकृत्' इत्यादि रूप से उपादानचर को विश्वा
कहा जायगा।

यह सर्वथा संस्मरणीय, किंवा अविस्मरणीय है कि, तीनों विवर्त्त
एक ही अव्याकृत तत्त्व के तीन व्याकृत रूप हरमात्र हैं। अतएव ती
विज्ञानदृष्टि से पृथक् पृथक होते हुए भी ज्ञानदृष्टि से अपृथक् ही
अतएव—'एतद्वै तत्-एतद्वै तत्' रूप से भ्रपि विभक्त विभक्तभावों
निरूपण के साथ साथ ही सहजसिद्ध अभिन्नता को भी लक्ष्य बन
रहते हैं। यह इसलिए कि, कहीं आप इन तीन विवर्त्तों के सम्बन्ध
अपनी ऐसी धारणा न बना लें कि—ये तीन रूप पृथक् पृथक्रूप से
दूसरे से विच्छिन्न होकर कट कट कर तीन पृथक् पृथक सत्तायें बन गा
सत्ता एक है, भातिमात्र में त्रैविध्य है। तभी तो सजातीय-विजातीय
स्वगत भेदभिन्न त्रिविध भेदवाद से असंस्पृष्ट एकात्मवादसिद्धान्त सर्व
अनुगत है। इसी अभिन्नता को लक्ष्य बना कर—'तत्सृष्ट्वा तदेवा
प्राविशत्' सिद्धान्त आगतक बना है। अव्यय से विकसित अक्षर क
अव्यय से पृथक् नहीं रह सकता। एवमेव अक्षर से समुद्भूत क्षर क
अक्षर और अव्यय को छोड़ कर स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकत

स्पष्ट है कि उत्तर उत्तर के विज्ञान पूर्व–पूर्व के विज्ञानभावों को गर्भीभूत बना कर ही अग्रगामी बनते हैं। अतएव हमें यह कहना पड़ता है कि, निकृष्ट से निकृष्ट विज्ञान भी, सामान्यप्रज्ञ बालकों का कौतुकात्मक विज्ञान भी अपने मूल में उसी शाश्वत-सनातन-ब्रह्मविज्ञान को आधार बनाए हुए हैं। अन्तर इन कुविज्ञान तथा बालविज्ञानों में एवं उन सनातन शास्त्रीय आर्य विज्ञानों में केवल यही है कि, ये जहाँ अपनी यथानुरूपतालक्षणा समता से सुव्यवस्थित बन रहते हैं, वहाँ ये विज्ञान उसकी विषमता से अव्यवस्थित बने हुए हैं। इस विषममात्रामयी अव्यवस्था के दोष से ही ये विज्ञान लाभ के स्थान में, संरक्षण के स्थान में हानि तथा ध्वंस के कारण ही बन जाया करते हैं। इस व्यवस्था को लक्ष्य बना कर ही तो हमें विज्ञान शब्दार्थ का समन्वय करना है।

सूर्य्य-चन्द्रमा-व्योम-वायु-अग्नि-सलिल-पृथिवी-विद्युत्-मह-नक्षत्र-उल्का-धिष्ण्या-वज्र-धूमकेतु-आदि आदि पदार्थ यदि विश्वेश्वर के ब्रह्मविज्ञान की सीमा में अन्तर्भुक्त हैं, तो हाइड्रोजन-नाइट्रोजन-ऑक्सिजन, कार्बन, वर्त्तमान भूतविज्ञान के पदार्थ भी कोई लोकान्तर की तो वस्तु नहीं होंगे। फलतः सूर्य्यादि का यदि विज्ञानत्व ब्रह्मविज्ञानत्वेन अनुप्राणित है तो वर्त्तमान युग के ऑक्सिजनादि भूतविज्ञान भी हैं तो ब्रह्मविज्ञान की सीमा में ही अन्तर्भुक्त। इनके सम्बन्ध में भारतीय विज्ञान की समतुलन दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि, इन भूतविज्ञानों का मूल क्योंकि स्वप्रतिष्ठात्मक ब्रह्मविज्ञान के आधार पर समस्त रूप से सम्भवतः व्यवस्थित नहीं है, दूसरे शब्दों में ब्रह्मभाव अभी तक इन भूतभावों के लिए तिरोहित बना हुआ है। अतएव इत्थंभूत ब्रह्मोपहित यह भूतविज्ञान मनःशरीरानुबन्धिनी लोक-विभीषिकाओं का ही समुत्पादक

बना रहता हुआ क्षोभ के स्थान में मानव की भयमूला सहज शान्ति विधायक ही प्रमाणित हो सकता है हुआ है पूर्व के साभ्यादि युगों एवं हो रहा है आज के असवच्छिन्न आत्मनवच्छिन्न भूवि मी। यही तो समन्वय कर बना है राष्ट्र को ज्ञान, और विज्ञानधारा के सम्बन्ध में । नहीं, तो विज्ञान स्वयं बड़ा ही पवित्र आराध्य तत्त्व मानव के लिए, फिर वह भूतविज्ञान हो, अथवा तो भयविज्ञान । मारतीय महर्षियों में-'विज्ञानमित्युपास्त' रूप से विज्ञान को उपास्य मा है एवं इसकी भयविज्ञानधारा को-'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस उ घोषणा के साथ मानव के शाश्वत आनन्द का मुख्य कारण माना है

कौनसा दृष्टिकोण है विज्ञान का वैसा जो मानव के लिए उपास्य आराध्य बना करता है ? । आराधना की जाती है अपने से विशेष शक्ति शाली की । ' मानव की भूतसंस्था में विशेष शक्तिशाली मानव का अलौकि वह असमात्र ही है, जिसे प्रजापति कहा गया है। यही तो हमारा उपास्य बना करता है। भूतजगत् तो हमारी इन्द्रियों के सम्मुख विद्यमान रह हुआ भोग्य है अधस्तन है। प्रज्ञापराधवश जब हम इस मर्त्य भूतजगत् ही भयात्मापेक्षया विशेष शक्तिशाली अतएव बड़ा मान बैठने की भूल बैठते हैं, तो कालान्तर में यह भूतजगत् हमें अपना ग्रास ही बना डालता है, रक्षण के स्थान में हमारा भक्षण ही कर डालता है। एवं इस भय वह स्थिति में पहुँचने के अनन्तर इस प्रबुद्ध भूतविज्ञान की एषणा उपराम करने में सर्वथा असमर्थ बने रहते हुये अपना सभी सुख नष्ट क ठते हैं ही। इस महाभय से त्राण प्राप्त करने का एकमात्र माध्यम भ विज्ञान ही है जिसे प्रतिष्ठा बना लेने के अनन्तर वही भूतविज्ञान नियन्त्र में आता हुआ हमारे अभ्युदय का ही कारण बन जाता है। एतावता

दृष्टिकोण को सम्मुख रखते हुए ही हमें यज्ञविज्ञान को इस यज्ञविज्ञान रूप मूलविज्ञान की मूलप्रतिष्ठा बना लेना है। और यही एतद्देशीय माध्य-आध्यात्मिक यज्ञविज्ञान का प्रथम एवं प्रमुख दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर भारतीय यज्ञविज्ञान की धारा प्रवाहित हुई है।

क्या अर्थ है 'यज्ञ' शब्द का ? इस प्रश्न के समाधान से पहिले यज्ञविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले एक निरूढभाव का स्पष्टीकरण और कर लीजिए। जिस प्रकार 'पङ्कज' शब्द कालान्तर में कमल में ही निरूढ हो गया है एवमेव कालान्तर में विज्ञानशब्द भी 'यज्ञविज्ञान' में ही निरूढ बन गया है। इसीलिए आरम्भ में हमनें कहा था कि, यज्ञविज्ञान को हम निरूढभावापन्न विज्ञान शब्द से व्यवहृत न कर एकरूपनिबन्धन ज्ञानशब्द से ही व्यवहृत करेंगे जैसा कि-'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्' इत्यादि स्मार्त्तवचन से भी प्रमाणित है। इस वचन के 'ज्ञानं' का अर्थ है-'ब्रह्मविज्ञानम्' एवं 'विज्ञानम्' शब्द का अर्थ है-'यज्ञविज्ञानम्'। यहीं कुछ विशदरूप से निवेदन करना है।

ब्रह्म का विज्ञान (परीक्षण) नहीं हुआ करता, अपितु ज्ञान (निरीक्षण) हुआ करता है। दर्शनात्मक निरीक्षण ज्ञानमात्र है, एवं आच-रणात्मक परीक्षण विज्ञानमात्र है। गुणातीत सुसूक्ष्म ब्रह्म का सूक्ष्म-दृष्टि से ईक्षण ही सम्भव है, निरीक्षण ही सम्भव है, परीक्षण नहीं। अतएव ब्रह्मविज्ञान का ईक्षणात्मक ज्ञान ही कहना सम चीन बनता है। प्रयोगात्मक परीक्षण का आचरणात्मक व्यवहार का मूलभावों से सम्बन्ध है। अतएव परीक्षणात्मक विज्ञान का मूलात्मक यज्ञविज्ञान से ही सम्बन्ध माना जा सकता है। सहजभावानुसार ब्रह्मविज्ञान का विज्ञान नहीं हुआ करता, परीक्षण नहीं हुआ करता, अपितु ज्ञान हुआ करता है, ईक्षण

बना रहता हुआ क्षोभ के स्थान में मानव की अभभूता सहज शान्ति
विघातक ही प्रमाणित हो सकता है हुआ है पूर्व के साम्प्रति युगों
पर्व हो रहा है आज के अव्यवस्थित आत्मव्यवस्थित भूतविज्ञानयुग
भी। यहीं तो समन्वय कर लेना है राष्ट्र को ज्ञान, और विज्ञानधारा
के सम्बन्ध में । नहीं, तो विज्ञान स्वयं बड़ा ही पवित्र आराध्य तत्त्व
मानव के लिए, फिर वह भूतविज्ञान हो, अथवा तो ब्रह्मविज्ञान । स्व
भारतीय महर्षियों ने–'विज्ञानमित्युपास्व' रूप से विज्ञान को उपास्य मा
है एवं इसकी ब्रह्मविज्ञानधारा को–'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस
घोषणा के साथ मानव के शाश्वत आनन्द का मुख्य कारण माना है

कौनसा दृष्टिकोण है विज्ञान का वैसा, जो मानव के लिए उपास्य
आराध्य बना करता है ? । आराधना की जाती है अपने से विशेष शक्ति
शाली की । मानव की भूतसंस्था में विशेष शक्तिशाली मानव का अलौकिक
वह अवभाव ही है, जिसे प्रजापति' कहा गया है। यही तो हमारा उपास्य
बना करता है । भूतजगत् तो हमारी इन्द्रियों के सम्मुख विद्यमान रहत
हुआ भोग्य है, अभाव है । प्रमादपराधवश जब हम इस भस्म भूतजगत्
ही अपरसापेक्षया विशेष शक्तिशाली अतएव बड़ा मान बैठने की भूल
बैठते हैं, तो कालान्तर में वह भूतजगत् हमें अपना ग्रास ही बना डालत
है, रक्षण के स्थान में हमारा भक्षण ही कर डालता है । एवं उस अव
वह स्थिति में पहुंचने के अनन्तर इस अबुद्ध भूतविज्ञान की एषणा
उपराम करने में सर्वथा असमर्थ बन रहते हुये अपना सभी कुछ नष्ट
लेते हैं ही। इस महाभय से त्राण प्राप्त करने का एकमात्र माध्यम
विज्ञान ही है, जिसे प्रतिष्ठा बना लेने के अनन्तर यही भूतविज्ञान नियन्त्र
में आता हुआ हमारे अभ्युदय का ही कारण बन जाता है। एतावन्मात्र

यज्ञ के बल भी प्रतिष्ठित है। तभी तो 'तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' (गीता ३।१५। इत्यादि) रूप से सर्वाधारभूत ब्रह्म को भगवान् नें यज्ञ में ही प्रतिष्ठित माना है।

प्रतीच्य भाषा में सम्भवतः 'दर्शन' के लिए 'फिलासफी' (Philosophy) शब्द नियत है, एवं विज्ञान के लिए 'सायंस' (Science) शब्द नियत है। किन्तु यह शब्दद्वयी तत्त्वतः प्रतीच्य क्षेत्र में ही निरूढ है। जिस तत्त्ववाद का परीक्षणात्मक विज्ञान से, एवं तदनुगत आचरण से कोई सम्बन्ध नहीं है, सम्भवतः वही फिलासफी है, जो भारतीय तथाकथित विज्ञानाधारशून्य भारतीय वर्त्तमान दर्शन के साथ अवश्य समन्वित हो सकता है। वैदिक दर्शन तो मौलिक तत्त्वात्मक वह दर्शन है जिसके आधार पर यौगिक तत्त्वात्मक विज्ञान का वितान हुआ करता है। अत-एव वैदिक दर्शन तो विज्ञान का किंवा सायंस का ही मूलभूत आधार है। सायंस जिनके लिए क्रमशः सम्भवतः फिजिक्स (Physics) केमस्ट्री (Chemistry) इन दो शब्दों का प्रयोग करता है, जो कि दोनों ही शब्द सम्भवतः विज्ञानात्मक सायंस के क्षेत्र से ही अनुप्राणित हैं,- इन दोनों के साथ समन्वय मात्र के लिए ब्रह्म और यज्ञ, दोनों शब्द समन्वित माने जा सकते हैं

मूलतत्त्वविज्ञान ही यहाँ फिजिक्स कहलाया है, एवं रासायनिक रुचिरवृत्तात्मक यौगिक तत्त्वविज्ञान ही केमस्ट्री माना गया है। यद्यपि भूतविज्ञान के मूलभूत अमुक परिगणित तत्त्वों के साथ वैदिक अव्यय-अक्षर-क्षररूप मूलतत्त्वों का अंशतः भी समतुलन नहीं है। वर्त्तमान विज्ञानसम्मत मूलतत्त्ववाद वैदिक दृष्टि से तो विकारात्मक भूतों की ही सीमा में अन्तर्भुक्त है। तथापि समन्वय मात्र के लिए ब्रह्मतत्त्व को

हुआ करता है। यही भारतीय दर्शनशास्त्र की मूलभित्ति है, जिसका आचरणात्मिका आचारमीमांसा से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्षर यज्ञविज्ञान का ईक्षण नहीं हुआ करता। अपितु विज्ञान हुआ करता है। परीक्षण हुआ करता है। और यही भारतीय 'विज्ञानशास्त्र' की मूलभित्ति है, जिसका आचरणात्मिका यज्ञमीमांसा से ही प्रधान सम्बन्ध हो रहा है। यहाँ आकर अब हमें 'दर्शन' और 'विज्ञान' इन दो दृष्टिबिन्दुओं का अनुगमी बन जाना पड़ा। दर्शन तथा विज्ञान के समतुलनात्मक समन्वय के लिए तो अन्य प्रश्नोत्तरविमर्श ही अपेक्षित है। प्रकृत में केवल 'दर्शन' शब्द के अनुबन्ध से यह अवश्य निवेदन कर दिया जाता है कि जिसे आज 'भारतीय दर्शन' माना जा रहा है, वह वस्तुतः वैदिक दर्शन से सर्वथा विभिन्न प्रमाणित हो चुका है। वैदिक दर्शन आत्मदृष्ट्या जहाँ ईक्षणभाव-प्रधान बनता हुआ 'दर्शन' है, वहाँ यही अपने विभूतिरूप यज्ञविज्ञान की मूलभित्ति बनता हुआ 'विज्ञान' का भी आधारस्तम्भ बना हुआ है। दूसरे शब्दों में दर्शनात्मक वैदिक ज्ञान परीक्षणात्मक वैदिक विज्ञान के साथ समन्वित होकर ही प्रवृत्त हुआ है। ठीक इसके विपरीत वर्त्तमान भारतीय दर्शन विज्ञानपक्ष की आत्यन्तिक उपेक्षा कर शुष्क तत्त्ववाद में ही परिसमाप्त है, जिस इत्थंभूत विज्ञानवञ्चित दार्शनिक व्यामोहन नें ही आचारनिष्ठात्मक विज्ञानकाण्ड को अभिभूत किया है। एवं इसी दर्शनभ्रान्ति नें भारतीय व्याख्याताओं को शुष्क ज्ञानविजृम्भणमात्र का पथिक प्रमाणित कर दिया है। वस्तुगत्या एक ही विज्ञान की दो धाराओं का नाम दर्शन, और विज्ञान है, जिनके लिए वेदशास्त्र में ब्रह्म और यज्ञ, ये दो पारिभाषिक शब्द नियत हैं। यदि यज्ञ ब्रह्म पर प्रतिष्ठित है, तो ब्रह्म भी यज्ञ के द्वारा ही विभूतिभाव में परिणत हो रहा है। बिना

यज्ञ के ब्रह्म भी अप्रतिष्ठित है। तभी तो 'तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' (गीता ३।१५। इत्यादि) रूप से सर्वाधारभूत ब्रह्म को भगवान् ने यज्ञ में ही प्रतिष्ठित माना है।

प्रतीच्य भाषा में सम्भवतः 'दर्शन' के लिए 'फिलासफी' (Philosophy) शब्द नियत है, एवं विज्ञान के लिए 'सायंस' (Science) शब्द नियत है। किन्तु यह शब्दद्वयी तत्त्वतः प्रतीच्य क्षेत्र में ही नियत है। जिस तत्त्ववाद का परीक्षणात्मक विज्ञान से, एवं वस्तुगत आचरण से कोई सम्बन्ध नहीं है, सम्भवतः यही फिलासफी है, जो भारतीय तथाकथित विज्ञानाधारशून्य भारतीय वर्त्तमान दर्शन के साथ अवश्य समन्वित हो सकता है। वैदिक दर्शन तो मौलिक तत्त्वात्मक वह दर्शन है जिसके आधार पर यौगिक तत्त्वात्मक विज्ञान का वितान हुआ करता है। अत-एव वैदिक दर्शन तो विज्ञान का किंवा सायंस का ही मूलभूत आधार है। सायंस जिसके लिए क्रमशः सम्भवतः फिजिक्स (Physics) केमेस्ट्री (Chemistry) इन दो शब्दों का प्रयोग करता है, जो कि दोनों ही शब्द सम्भवतः विज्ञानात्मक सायंस के क्षेत्र से ही अनुप्राणित हैं,- इन दोनों के साथ समझने मात्र के लिए ब्रह्म और यज्ञ, दोनों शब्द समन्वित माने जा सकते हैं

मूलतत्त्वविज्ञान ही यहाँ फिजिक्स कहलाया है, एवं रासायनिक रूपेण यज्ञात्मक यौगिक तत्त्वविज्ञान ही केमेस्ट्री माना गया है। यद्यपि भूतविज्ञान के मूलभूत अमुक परिगणित तत्त्वों के साथ वाचिक अव्यय-अक्षर-क्षररूप मूलतत्त्वों का अंशतः भी समतुलन नहीं है। वर्त्तमान विज्ञानसम्मत मूलतत्त्ववाद वैदिक दृष्टि से तो विकारात्मक भूतों की ही सीमा में अन्तर्भुक्त है। तथापि समझने मात्र के लिए मूलतत्त्व को

हुआ करता है। यही भारतीय दर्शनशास्त्र की मूलभित्ति है, जिसका आचरणात्मिका आचारमीमांसा से कोई सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर यज्ञविज्ञान का ईक्षण नहीं हुआ करता। अपितु विज्ञान हुआ करता है। परीक्षण हुआ करता है। और यही भारतीय 'विज्ञानशास्त्र' की मूलभित्ति है, जिसका आचरणात्मिका यज्ञमीमांसा से ही प्रधान सम्बन्ध हो रहा है। यहाँ आकर अब हमें 'दर्शन' और 'विज्ञान' इन दो दृष्टिबिन्दुओं का अनुगामी बन जाना पड़ा। दर्शन, तथा विज्ञान के समतुलनात्मक समन्वय के लिए तो अन्य प्रस्त्रोत्तरविमर्श ही अपेक्षित है। प्रकृत में केवल 'दर्शन' शब्द के अनुबन्ध से यह अवश्य निवेदन कर दिया जाता है कि जिसे आज 'भारतीय दर्शन' माना जा रहा है, वह वस्तुतः वैदिक दर्शन से सर्वथा विभिन्न प्रमाणित हो चुका है। वैदिक दर्शन आत्मतत्त्वया जहाँ ईक्षणमात्र-प्रधान बनता हुआ 'दर्शन' है, वहाँ यही अपने विभूतिरूप यज्ञविज्ञान की मूलभित्ति बनता हुआ 'विज्ञान' का भी आधारस्तम्भ बना हुआ है। दूसरे शब्दों में दर्शनात्मक वैदिक ज्ञान परीक्षणात्मक वैदिक विज्ञान के साथ समन्वित होकर ही प्रवृत्त हुआ है। ठीक इसके विपरीत वर्त्तमान भारतीय दर्शन विज्ञानपक्ष की आत्यन्तिक उपेक्षा कर शुष्क तत्त्ववाद में ही परिसमाप्त है, जिस मूलभूत विज्ञानवञ्चित दार्शनिक व्यामोहन में ही आचारनिष्ठात्मक विज्ञानकाण्ड को अभिभूत किया है। एवं इसी दर्शनभ्रान्ति में भारतीय व्याख्याताओं को शुष्क ज्ञानविजृम्भणमात्र का पथिक प्रमाणित कर दिया है। वस्तुगत्या एक ही विज्ञान की दो धाराओं का नाम दर्शन, और विज्ञान है, जिनके लिए वेदशास्त्र में ब्रह्म और यज्ञ, ये दो पारिभाषिक शब्द नियत हैं। यदि यज्ञ ब्रह्म पर प्रतिष्ठित है, तो ब्रह्म भी यज्ञ के द्वारा ही विश्वनिर्माण में परिणत हो रहा है। बिना

यज्ञ के ब्रह्म भी प्रतिष्ठित है। तभी तो 'तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' (गीता ३।१५ इत्यादि) रूप से सर्वाधारभूत ब्रह्म को भगवान् ने यज्ञ में ही प्रतिष्ठित माना है।

प्रतीच्य भाषा में सम्भवतः 'दर्शन' के लिए 'फिलासफी (Philosophy) शब्द नियत है एवं विज्ञान के लिए 'साइंस (Science) शब्द नियत है। किन्तु यह शब्दद्वयी तत्त्वतः प्रतीच्य क्षेत्र में ही निरूढ है। जिस तत्त्ववाद का परीक्षणात्मक विज्ञान से, एवं तदनुगत आचरण से कोई सम्बन्ध नहीं है, सम्भवतः वही फिलासफी है, जो भारतीय तथाकथित विज्ञानाधारशून्य भारतीय वर्तमान दर्शन के साथ अवश्य समन्वित हो सकता है। वैदिक दर्शन तो मौलिक तत्त्वात्मक वह दर्शन है जिसके आधार पर यौगिक तत्त्वात्मक विज्ञान का वितान हुआ करता है। अतएव वैदिक दर्शन तो विज्ञान का किंवा साइंस का ही मूलभूत आधार है। साइंस जिनके लिए क्रमशः सम्भवतः फिजिक्स (Physics) केमस्ट्री (Chemistry) इन दो शब्दों का प्रयोग करता है, जो कि दोनों ही शब्द सम्भवतः विज्ञानात्मक साइंस के क्षेत्र से ही अनुप्राणित हैं – इन दोनों के साथ समझने मात्र के लिए ब्रह्म और यज्ञ, दोनों शब्द समन्वित माने जा सकते हैं

मूलतत्त्वविज्ञान ही वहाँ फिजिक्स कहलाया है, एवं रासायनिक दृष्टिकोणात्मक यौगिक तत्त्वविज्ञान ही केमस्ट्री माना गया है। यद्यपि मूलविज्ञान के मूलभूत अमुक परिगणित तत्त्वों का साथ वैदिक अव्यय-अक्षर-क्षरस्वरूप मूलतत्त्वों का अंशतः भी समतुलन नहीं है। वर्तमान विज्ञानसम्मत मूलतत्त्ववाद वैदिक दृष्टि से तो विकारात्मक भूतों की ही सीमा में अन्तर्भुक्त है। तथापि समझने मात्र के लिए ब्रह्मतत्त्व को

ो पु भूण तथा श्रीभूणों के उपमर्दनात्मक अन्यत्यासम्बन्ध से
ात सन्तति ही 'यज्ञ' माना जायगा। जहाँ ग्रन्थिबन्धन नहीं होता,
ो शिथिल सम्बन्ध के लिए 'संसारबन्धन-बहिर्व्यामसम्बन्ध-आदि
ा गया है। इसी को 'योग' माना गया है।

तथाविध योगात्मक सम्बन्ध में युक्त रहने वाले सभी पदार्थ अपने
ने स्वरूप से सुरक्षित बने रहते हैं। फलतः इस योगात्मक मिश्रण
कोई अपूर्वभाव उत्पन्न नहीं होता। जिस मिश्रण से अपूर्वता आती
उसके साथ 'एकीभाव' सूचक 'सम' उपसर्ग लग जाता है। एवं वो
मिश्रण सम्मिश्रण बन जाता है जिसे कि 'याग' भी कहा गया है।
इसप्रकार मिश्रण तथा सम्मिश्रण के भेद से पदार्थों में योग-याग, भेद
दो प्रकार से सम्बन्ध प्रक्रान्त रहता है, जिनमें से सम्मिश्रणात्मक
ाग ही 'यज्ञ' का स्वरूपसमर्पक माना गया है। कैसा आश्चर्य है कि
ाकृतिकरणात्मक-सम्मिश्रणात्मक-पारस्परिक मेल जहाँ 'यज्ञ' शब्द की
भूता यजनप्रक्रिया से प्रतिध्वनित है वहाँ तत्समतुलित ही 'केमेस्ट्री'
ब्द से सम्बन्ध रखने वाला रासायनिक सम्मिश्रणात्मक सम्बन्ध भी
म्मवत केमेस्ट्री शब्द से प्रतिध्वनित है। इसीलिए तो हमनें कहा है
कि, उच्चभूमिका पर पहुँचने के अनन्तर प्राच्य-प्रतीच्य-सभी विज्ञान
मन्वित बन जाया करते हैं।

सम्मिश्रणात्मक यज्ञ की क्या व्याख्या हुई है वदशास्त्र में ? यद्यपि
यह प्रश्न अत्यन्त दुरूह बन रहा है परोक्षयात्मक यज्ञविज्ञान के स्वरूप
से सर्वथा वञ्चित मादृश विज्ञानशून्य व्यक्ति के लिए। तदपि 'ममान्यप
स्तोत्रे हर निरपवादः परिकर' न्याय से यह कहने की धृष्टता कर ही ली
जाती है कि, उक्त व्यापुरुष प्रश्न के अनेक समाधान हो सकते हैं।

फिजिक्स एवं यज्ञतत्त्व को केमेस्ट्री कहा जासकता है। किन्तु फिला-सफी का तो भारतीय वैदिक दर्शन से कोई भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। वैदिक दर्शनरूप ब्रह्मतत्त्व वैदिक विज्ञान का फिजिक्स विभाग है, एवं वैदिक विज्ञानरूप यज्ञतत्त्व वैदिक विज्ञान का केमेस्ट्री सत्त्व है, इस मान्यता को फिर भी समझने मात्र के लिए अवश्य बनाया जा सकता है।

ब्रह्मविज्ञानात्मक ज्ञान की परोगाथा उपरत हुई। अब संक्षेप से यज्ञविज्ञानात्मक विज्ञान की पुण्यगाथा का भी संस्मरण कर लेना चाहिए। यज्ञविज्ञान ही वैविध्यानुगत विज्ञान शब्द का प्रमुख अधिकारी बन रहा है जैसा कि पूर्व में निष्कर्ष-प्रसङ्ग से निवेदन किया जा चुका है। अब उसी चिरन्तन शैली के माध्यम से 'यज्ञ शब्दार्थ का समन्वय कीजिए। देवपूजा सङ्गतिकरण-दान-भावात्मक 'यज' धातु (यज देवपूजा-सङ्गतिकरणदानेषु) से यज्ञ शब्द सम्पन्न हुआ है, जिन इन तीनों अर्थों में से विज्ञानापेक्षया मध्य के सङ्गतिकरणार्थ की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। अनेक तत्त्वों का सङ्गतिकरणात्मक यौगिकरूप ही 'यज्ञ' शब्द की मौलिक परिभाषा होगी। सम्मिश्रण का नाम ही संस्कृत भाषा में-'यजन' है। यजन ही यज्ञ है। दो-तीन-चार-अथवा तो अनेक तत्त्वों का वैसा सम्मिश्रण, जिससे मिश्रित होने वाले सभी तत्त्व अपना पूर्वस्वरूप छोड़ते हुए नवीन-अपूर्व स्वरूप में परिणित हो जाँय, वही 'यज्ञ' है। इसी सम्बन्ध को वैदिकदर्शनपरिभाषा में 'अन्तर्य्यामसम्बन्ध' माना गया है, इसी को अग्नियज्ञ के सम्बन्ध से 'चितिसम्बन्ध' कहा गया है। एवं यही व्यवहारभाषा में 'ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध' कहलाता है। उदाहरण के लिए शुक्र और शोणित में रहने

पु भूण तथा स्त्रीभूणों का उपमर्दनात्मक सम्बन्धात्मक सम्बन्ध से
म सन्तति ही 'यज्ञ' माना जायगा। यहाँ मन्थिबन्धन नहीं हुआ,
शिथिल सम्बन्ध के लिए संसारबन्धन-प्रतिष्ठासम्बन्ध-आदि
। गया है। इसी को 'योग' माना गया है।

सर्वाविध योगात्मक सम्बन्ध में युक्त रहने वाले सभी पदार्थ अपने
न स्वरूप से सुरक्षित बने रहते हैं। फलतः इस योगात्मक मिश्रण
कोई अपूर्वभाव उत्पन्न नहीं होता। जिस मिश्रण से अपूर्वता आती
उसके साथ 'एकीभाव' सूचक 'सम' उपसर्ग लग जाता है। एवं वा
मण सम्मिश्रण बन जाता है जिसे कि—'याग' भी कहा गया है।
उसप्रकार मिश्रण तथा सम्मिश्रण के भेद से पदार्थों में योग-याग, भेद
दो प्रकार से सम्बन्ध प्रक्रान्त रहता है, जिनमें से सम्मिश्रणात्मक
ग ही 'यज्ञ' का स्वरूपसमर्पक माना गया है। कैसा आश्चर्य है कि
कृतिकरणात्मक-सम्मिश्रणात्मक पारस्परिक मल जहाँ 'यज्ञ' शब्द की
समृता यज्ञप्रक्रिया से प्रतिध्वनित है, वहाँ वर्तमानयुगीन ही 'केमेस्ट्री'
ब्द से सम्बन्ध रखने वाला रासायनिक सम्मिश्रणात्मक सम्बन्ध भी
सम्भवतः केमस्ट्री शब्द से प्रतिध्वनित है। इसीलिए तो हमने कहा है
कि, उच्चभूमिका पर पहुँचने के अनन्तर प्राच्य-प्रतीच्य-सभी विज्ञान
समन्वित बन जाया करते हैं।

सम्मिश्रणात्मक यज्ञ की क्या व्याख्या हुई है वेदशास्त्र में? यद्यपि
यह प्रश्न अत्यन्त दुरूह बन रहा है परीक्षणात्मक यज्ञविज्ञान के स्वरूप
से सर्वथा वञ्चित मादृश विज्ञानशून्य व्यक्ति के लिए। तदपि 'समान्यप
न्याय हर निरपवाद' परिकर. न्याय से यह कहने की धृष्टता कर ही ली
जाती है कि, तद्व्याख्यागत प्रश्न के अनेक समाधान हो सकते हैं।

उदाहरण के लिये आध्यात्मिक यज्ञ का लक्षण पृथक् होगा, आधिदैवि यज्ञ का कोई अन्य ही लक्षण होगा, एवं आधिभौतिक यज्ञ अपना तीसरा ही स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित करेगा। सर्वप्रथम क्रमप्राप्त आध्यात्मिक यज्ञ-जिसे कि शारीरिक यज्ञ ही कहा गया है-का लक्षण ढूँढने चलें तो-'अन्नोर्क्प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः' यही लक्षण हमारे सम्मुख उपस्थित होगा जिसका अभिप्राय होगा —"अन्न, ऊर्क् एवं प्राण, इन तीनों का एक दूसरे के ग्रहण से उत्पन्न हो पा वाला जो धारावाहिक चंक्रमण है, वही यज्ञ है।" इस यज्ञ में तीनों ही अनुग्राहक हैं तीनों ही अनुग्राह्य हैं। समन्वय कीजिये उदाहरण माध्यम से लक्षण का।

जैसा कि पहले शब्दसमतुलित निष्कर्षभाव प्रसङ्ग में निवेदन कि गया है—'यज्ञ यज्ञ न हो वास्तव में 'विज्ञान' शब्द का प्रमुख अभि प्रमाणित हो रहा है। क्योंकि वैविध्य लक्षण विज्ञानमात्र विविध भाव अनेक तत्त्वों के सम्मिश्रणात्मक 'यज्ञ' से ही अनुप्राणित है। अ ऊर्क्-प्राण-अन्न तीन विविध भावों से समन्वित कर्म्म को इसी दृष्टि अवश्य ही शारीरिक किंवा आध्यात्मिक यज्ञ कहा जा सकता है प्रकरणानुबन्धी अमुक नियत समय पर अशनाया लक्षणा बुभुक्षा भूख जागरूक हो गई। इस भूख को उपशान्त करने के लिए हम अपने उस शारीरिक जाठराग्निरूप वैश्वानर अग्नि में अन्न की आहुति प्रदान की जो वैश्वानर अग्नि 'आ लोमभ्य आनखाग्रेभ्य' के अनुसार केशलोमों को, तथा नखों के छेदनयोग्य अग्रभागों को छोड़ कर सब शरीर में व्यवहाररूप से-मगद्गगद् रूप से प्रज्वलित रहता हुआ लोपूम है [illegible] आ तिक्रम के लिये व्यवहार प्र० आ कि, 'हमने कपिप

खा लिया है भोजन कर लिया है। अग्नि में आहुत इस अन्न न
न के सहजसिद्ध विशकलनधर्म्म से अपने आपको प्रथम (१) 'रस'
में परिणत कर लिया, एवं विशकलनप्रक्रिया से पृथक् बन जाने वाले
लक्षण प्रवर्ग्य भाग को अग्नि ने पृथक् फेंक दिया। और यों भुक्तान्न
न्म में 'रस और मल' इन दो भागों में विभक्त हो गया।

क्या मलभाग इस प्रथमा विशकलनप्रक्रिया से ही निःशेष बन
रस की सीमा से ? नहीं। अभी रस में सूक्ष्म मल विद्यमान है।
विशकलनप्रक्रिया आरम्भ बनी। रस में से मल भाग पुन पृथक्
। यही मलभाग 'रस' माना गया, एवं इस मलात्मक रस का रसभाग
'असृक्' अर्थात् रुधिर माना गया। पुनः वही प्रक्रिया असृक् से
'मांस' रूप रस की निष्पत्ति एवं स्वयं असृक् की मलसंज्ञा। पुन
में यही प्रक्रिया मांस से (४) 'मेद' रूप रस की निष्पत्ति एवं
मांस की मल संज्ञा। पुन मेद में यही प्रक्रिया मेद से (५)
स्थि' रूप रस की निष्पत्ति एवं स्वयं मेद की मलसंज्ञा। न अस्थि
ही प्रक्रिया, अस्थि से (६) 'मज्जा' रूप रस की निष्पत्ति एवं स्वयं
की मलसंज्ञा। पुनः मज्जा में यही विशकलन मज्जा स (७)
' रूप रस की निष्पत्ति एवं स्वयं मज्जा की मलसंज्ञा। इसप्रकार
न्न से आरम्भ कर शुक्रपर्य्यन्त प्रक्रान्त रहने वाली रसमलानुगता
लनप्रक्रिया की क्रमधारा से 'रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-
' इन सात धातुओं की स्वरूपनिष्पत्ति हो गई जिनका पार्थिव
तत्त्व से प्रधान सम्बन्ध माना गया है।

क्या शुक्र नामक सप्तम पार्थिव धातु में मन्थनप्रक्रियासहचारिणी
कलनप्रक्रिया उपरान्त हो गई ?। नहीं। क्यों ?। इसलिए कि अभी

ता भुक्त अन्न के पार्थिव मधुरस का ही इन रसादि-शुक्रान्त धातुओं में विराजमान हुआ है। अभी इस पार्थिव अन्न में आन्त पत्री धातु एवं चान्द्र दिव्य परस्यो धातु, अर्थात् आन्तरिक्ष एवं मृ का रस जो कि क्रमशः तरस एवं विरस माने गए हैं-और प्रतिष्ठि अन्न के स्वरूपनिम्र्माण में पृथिवी अन्तरिक्ष एवं चन्द्रमा के द्वारा तीनों लोकों के पार्थिव घनात्मक द्रव्य, आन्तरिक्ष तरलात्मक द्रव्य, दिव्य विरलात्मक द्रव्य तीनों द्रव्य उपयुक्त हैं। इनमें से श शुक्रान्त जिन सप्त तत्त्वों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, सातों ही धातु पार्थिव ही हैं, जिन इन सातों पार्थिव धातुओं की श पिण्डमभूमि 'शुक्र' नाम का सातवाँ धातु ही बन रहा है। यद्यपि पार्थि तीनों ही लोकों के द्रव्य 'धातु' नाम से व्यवहृत हुए हैं। तथापि प्रथम पार्थिव सप्त धातुओं में तथा आन्तरिक्ष तरस-दिव्य विरस-भ में पृथिवी का अन्त का शुक्रधातु ही उपसंहारत्वेन प्रमुख बना हुआ एकमात्र इसी अनुबन्ध से आगे चलकर तीनों द्रव्यों में सामान्य व्याप्त भी 'धातु' शब्द पार्थिव शुक्रधातु में ही निरूढ हो गया है। लोकव्यवहार में एवं चिकित्साशास्त्र में शुक्र को यत्र तत्र केवल नाम से भी व्यवहृत कर दिया है। यही कारण है कि, 'धातुक्षय' रोगविशेष 'शुक्रक्षय' का ही संग्राहक बना हुआ है।

उक्त शुक्र नामक पार्थिव अन्तिम धातु में भी पुनः वही विराम प्रक्रिया प्रक्रान्त बनी। इससे शुक्र में प्रतिष्ठित आन्त रस धातु रसात्मक धातु पृथक् हो गया एवं यही 'ओज' कहलाया। शुक्र। आन्तरिक्ष ओज धातु का क्योंकि उपक्रमबिन्दु बनता है। शुक्रसंरक्षण पर ही ओज तथा आजस्विता का संरक्षण सम्भव

करता है। यही ओज वैदिक विज्ञान में-'ऊर्क्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे प्रकृत के व्याख्यान में हमनें दूसरा स्थान दिया है। अन्न से आरम्भ कर शुक्र पर्य्यन्त सातों धातुओं की समष्टि पृथिव्यंशेन अन्नशब्द से ही परिगृहीत है। तदनन्तर आन्तरिक्ष्य 'ओज' नामक 'ऊर्क्' का स्थान आता है।

ऊर्क् रूप ओज 'रस' माना गया है, एवं तदपेक्षया स्वयं शुक्र मल मान लिया गया है। इस रसात्मक ओजधातु में अभी दिव्य रस और समाविष्ट है। यही वह पारमेष्ठ्य प्रवर्ग्येभूत आम्र सौम्य रस है, जिसका-'यो व शिवतमो रसः' रूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। इसी प्रक्रान्ता विराकरणप्रक्रिया से ओज का विराकरण होता है। इससे विमुक्त शुद्ध दिव्य प्राणात्मक शिवतम सोमरस ही 'रस' कहलायेगा, एवं स्वयं ओज इस रस की अपेक्षा से 'मल' मान लिया जायगा। यही शिवतम दिव्यप्राणात्मक सूक्ष्म रस भारतीय विज्ञान-परिभाषा में सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता 'महान' नामक अतीन्द्रिय मन कहलाया है। 'चन्द्रमा मनसो जात, मनश्चन्द्रे ण लीयते' इत्यादि विज्ञानश्रुतियाँ जिस मन की उत्पत्ति चन्द्रमा से मान रही हैं, जिसके लिए-'अन्नमयं हि सौम्य ! मन' यह औपनिषद सिद्धान्त स्थापित हुआ है, वह यही ओज की भी सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूप दिव्य आम्र रस ही है जिसका इत्थंभूत शिवतम सत्त्व-मात्र अन्नविशुद्धि पर ही अवलम्बित है। विज्ञानप्रधान भारत के आबालवृद्ध-वनिता-आमूर्ख विद्वज्जन-सभी इस सूक्ति से परिचित हैं कि-'जैसा अन्न, वैसा मन' । सात्त्विक-राजस-तामस-जैसा भी अन्न खाया जायगा तदनुपात से ही विराकरण की अन्तिम सीमा में महान्मन सत्त्व रज-स्तमोभावों में परिणत रहेगा। सत्त्वान्नानुगत

भान्त्र रस ही मन के सहजसिद्ध शिवतम रसरूप सात्त्विक भाव की मूल प्रतिष्ठा माना जायगा तभी हमारा मन शिवसंकल्प का अधिष्ठाता बन सकेगा। अपनी सत्त्वगुणान्विता आहारादि की व्यवस्था से मनस्तत्त्व की इसी शिवतमरसात्मिका मङ्गलमयता को अभिव्यक्त करते हुए ऋषि ने कहा है—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
—यजुःसंहिता

यही कारण है कि, अन्यान्य आचारधर्म्मों के समतुलन में धर्म की ऋषिप्रज्ञा ने 'अन्न' के सम्बन्ध में बड़ी ही जागरूकता मानी है राजर्षि मनु ने तो अन्यान्य दोषों के साथ इस अन्नदोष को ही मुख्यरूप से ज्ञानसिद्ध भारतीय मानव की जीवितमृत्यु माना है। देखिए !

अनभ्यासेन वेदानां, आचारस्य च वर्जनात् ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥
—मनु ।

अन्नशुद्धि का भारतीय मानव के लिए कितना महत्त्व है ?, प्रग उक्त विवेचन से सर्वात्मना समाहित है। दुर्भाग्य है यह इस प्रज्ञाशील वर्ग का कि, अपनी मौलिक विज्ञानपरम्पराओं को विस्मृत कर बैठने वाला यही भारतीय मानव आज अमर्य्यादाहारानुगता खान–पान की मर्य्यादा के प्रति सर्वथा ही उच्छृङ्खल बनकर अमर्य्यादित बन कर ही विश्राम नहीं ले रहा। अपितु ऋषिप्रज्ञा के द्वारा निर्धारित विज्ञानसिद्ध अन्नव्यवस्थाओं के उपहास में भी सर्वात्मना बना हुआ है। इससे अधिक इस राष्ट्रीय मानव का और क्या पतन ——— ?

यही आध्यात्मिक यज्ञ के स्वरूपसमन्वय की चर्चा रही है। पार्थिव सप्तधातु के कौशल ने मानव को शरीरस्वस्थता प्रदान की, ओज ने ओजस्विता प्रदान की, एवं शिवसङ्कल्पात्मक मन ने मनस्विता प्रदान की। वसिष्ठ-गायित्र-मंहिष्ठ इत्यंभूत मानव का यह आध्यात्मिक यज्ञ अन्न-ऊर्क्-मायरूप सप्तधातु-ओज मन-इन तीनों के धारावाहिक त्रिस न्धमरण से सुव्यवस्थित बना हुआ है, यही आध्यात्मिक यज्ञ की स्वरूप-व्याख्या है। यह तो हुआ इस यज्ञ का तात्त्विक समन्वय। अब दो शब्दों में लौकिक समन्वय का भी विश्लेषण कर लीजिए। भोजनकर्म सम्पन्न हुआ। इससे भुक्त अन्न रसरूप में परिणत हो गया। अपनी इस रसशक्ति से भुक्त अन्न ने हमारे उस शारीरिक प्राण को सशक्त बना दिया जो प्राण अन्नग्रहण से पूर्वावस्था में मूर्च्छितप्राय बना हुआ था। रसाहुति से मूर्च्छित प्राण मानों जग पड़ा, विकसित हो पड़ा, प्रज्ज्वलित हो पड़ा समिद्ध हो पड़ा। बस ठीक-जैसे कि घृताहुति से अग्नि प्रज्वलित हो पड़ता है। तात्पर्य यही हुआ कि, भुक्त अन्न ही रस के द्वारा कालान्तर में प्राणरूप में परिणत हो गया। अन्नात्मक यह प्रज्वलित-आग्नेय प्राण ही मानव की जीवनीयशक्ति कहलाया। इस जीवनीयशक्ति में परिणत वसिष्ठ प्राण अपने ऐन्द्रियक व्यापार, तथा शारीरिक बाह्य कर्म के लिए, अध्यवसाय पूर्वक कर्मप्रवृत्ति के लिए प्रेरणाबल का प्रवर्त्तक बन गया। प्राण की इसी प्रेरणा से हम कर्म में प्रवृत्त हो पड़े। इस अध्यवसायात्मिका कर्मसन्तानपरम्परा के द्वारा हमारा प्राण पुनः विस्रस्त हो पड़ा, क्षत हो गया। इस विस्रंसनधर्म से प्राण ज्यों ज्यों निर्बल-अशक्त-शिथिल होने लगा त्यों त्यों ही हमारी कर्मप्रवृत्ति मानों शिथिल होने लगी। इस शैथिल्य के साथ साथ

चान्द्र रस ही मन के सहजसिद्ध शिवतम रसरूप सात्विक भाव की मूल प्रतिष्ठा माना जायगा, तभी हमारा मन शिवसंकल्प का अधिष्ठाता बन सकेगा। अपनी सत्त्वगुणान्विता आहारादि की व्यवस्था से मनस्तत्त्व की इसी शिवतमरससात्विक मङ्गलकामना को अभिव्यक्त करते हुए ऋषि ने कहा है—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
—यजुर्संहिता

यही कारण है कि, भक्ष्याभक्ष्य आचारधर्म्मों के समतुलन में भारतीय ऋषिप्रज्ञा ने 'अन्न' के सम्बन्ध में बड़ी ही सावधानता मानी है। राजर्षि मनु ने तो भक्ष्याभक्ष्य दोषों के साथ इस अन्नदोष को ही मुख्यरूप से ज्ञाननिष्ठ भारतीय ब्राह्मण की जीवितमृत्यु माना है। देखिए !

अनभ्यासेन वेदानां, आचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥
—मनु ।

अन्नशुद्धि का भारतीय मानव के लिए कितना महत्त्व है ?, प्रश्न उक्त विवेचन से सर्वात्मना समाहित है। दुर्भाग्य है यह इस महामहिम देश का कि, अपनी मौलिक विज्ञानपरम्पराओं को विस्मृत कर बैठने वाला यही भारतीय मानव आज भक्ष्याभक्ष्यव्यवहारानुगता खान-पान की मर्य्यादा के प्रति सर्वथा ही उच्छृङ्खल अमर्य्यादित बन कर ही विश्राम नहीं ले रहा। अपितु ऋषिप्रज्ञा के द्वारा निर्धारित विज्ञानसिद्ध भक्ष्याभक्ष्यव्यवस्थाओं के उपहास में भी सर्वाग्रणी बना हुआ है। इससे अधिक इस राष्ट्रीय मानव का और क्या पतन होगा ?।

ऊर्क्' कहा था। एवं यहाँ गुरुत्तम की प्रथमा रसावस्था को ही 'ऊर्क्' कहा जा रहा है, इसमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिए। स्थूल से सूक्ष्म की ओर अभिमुख हो जाना ही अन्न की ऊर्क् ता है, जिसका चरम विकास तो यद्यपि शुक्रानन्तर ओज मात्र पर ही होता है। तथापि क्योंकि इसका उपक्रम रसादि सातों पार्थिव धातुओं में से प्रथम रसधातु से ही हो जाता है। इसीलिए रसावस्था को भी यहाँ ऊर्क् मान लिया जाता है जिसकी कि अन्न के शिवतम-रसात्मक दिव्यप्राण की अपेक्षा से मध्यस्थता दोनों ही दृष्टिकोणों से सुसमन्वित है।

अन्न की सूक्ष्मा रसावस्था ही 'ऊर्क्' है यही निर्वचन निष्कर्ष है, जो कि इत्थंभूत ऊर्क्-रस जीवनीय रस किंवा जीवनशक्ति कहलाया है। परिभाषानुसार 'ऊर्क्' शब्द भी अपना स्वरूप स्वयं ही अभिव्यक्त कर रहा है। जिसप्रकार वृष्टिजल के सम्बन्ध होते ही वृक्ष-लता-गुल्मादि का पत्ता पत्ता थिरक उठता है, प्रसादगुणान्विता ओजस्विनी विकासशक्ति-लक्षणा जीवनीयशक्ति से समन्वित हो पड़ता है ठीक उसी प्रकार प्रथयन बुभुक्षा की अवस्था में भोजन करते समय ज्यों ज्यों अन्नग्रास जलाभिषेक माध्यम से गलाधःकरणानुबन्धव्यापार के द्वारा अन्तःप्रविष्ट होते जाते हैं त्यों त्यों हमारे नेत्रों में अन्यान्य अङ्ग-प्रत्यङ्गों में एकप्रकार का उद्दीपन-भाव-ओजभाव-विकासभाव अभिव्यक्त होता रहता है। भोजनानुगता इस तात्कालिकी प्रदीप्ति का जो आधारबिन्दु है, वही प्राण का पूर्वरूप माना गया है, एवं यही 'ऊर्क्' नाम से व्यवहृत हुआ है जिसके विशेषरूपेण समन्वित रहने से ही पयस्विनी गौमाता 'ऊर्जस्विनी' कहलाई है। पय पदार्थों में जीवनीय रसात्मक * गोदुग्ध में वनस्पतियों उदुम्बर

* स्वादु पाकरसं स्निग्धं-ओजस्यं-धातुवर्द्धनम्।
प्रायः पयः, तत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम् ॥
—अष्टाङ्गहृदय

ही प्राण मानो मूर्छित होने लगा। प्राण की यही मूर्च्छा 'अशनाया' नाम से प्रसिद्ध हुई जिसका भावार्थ है अशरूप की इच्छा, जिसे कि लोकभाषा में 'भूख' कहा गया है। यही भूख इसे द्वारा पुनः अन्न का आहरण आहुत अन्न की पुनः अग्नि में आहुति आहुत अन्न की पुनः रसद्वारा प्राणरूप में परिणति, सशक्त प्राण की पुनः कर्म में प्रवृत्ति कर्मप्रवृत्ति से पुनः प्राण का शैथिल्य और तद्द्वारा पुनः अशनाया की जागरूकता, पुनः अन्नाहरण-इत्येवंरूपेण अन्न-प्राण भावों का यह भारानाहिक चक्रक्रम अनवरत प्रवाहित रहता है, एवं यही आध्यात्मिक शारीरिक यज्ञ की एक प्रकार की स्वरूपव्याख्या है।

अशनाया को वेद ने 'पाप्मा' कहा गया है 'अशनाया वै पाप्मा' अन्नाहरण की मूलाधिष्ठात्री यह अशनाया-बुभुक्षा यदि अन्नाहरण में समर्थ हो जाती है तो मानव के लिए इससे बड़ा पुण्यप्रद भी कोई दूसरा नहीं है। साथ ही यदि इसे समय पर अन्न उपलब्ध न हुआ, तो यह सर्वप्रथम शारीरिक रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जादि का ही भक्षण कर्तव्य आरम्भ कर देती है। कालान्तर में यों सर्वस्व का निगरण कर हुई यही अशनाया सर्वस्व का ही सर्वनाश करती हुई स्वयमपि नष्ट हो जाती है। एवं इसी दृष्टि से इसे 'महापाप्मा' कह देना भी अन्वर्थ बन जाता है। इत्थंभूता अशनायारूपा बुभुक्षा ने-भूख ने-अन्न आहरण कर इसे शारीराग्नि में आहुत किया। इस आहुत अन्न रसाग्निका जो प्रथमावस्था है वही श्रुतिदृष्टि में-'अद्' शब्द कहलाता है, जिसे हम अन्न और प्राण की मध्यावस्था कह सकते हैं। पूर्व इसमें रसासृङ्मांसादि सात पार्थिव धातुओं के अनन्तर अन्तिम शुक्र के पिण्डकमल से सम्बन्ध रखने वाले 'ओज' नामक आन्तरिक धातु

आकृष्णेन रजसावर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च ।
हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

इत्यादि वेदमन्त्र से प्रमाणित है। किन्तु प्रकृति की स्थिति की अपेक्षा से पृथिवी-गतिमती है सूर्य्य तदपेक्षया स्थिर है। पूर्वोक्त वचन इसी प्राकृतिक स्थिति की दृष्टि से सूर्य्य को स्थिर मान रहे हैं पृथिवी को नहीं। 'नैवोदेता नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता' इत्यादि श्रौतो श्रुति कह रही है कि, सूर्य्य का जो उदय तथा अस्त माना जाता है, वह पार्थिव परिभ्रमणनिबन्धन ही है। वस्तुतः न सूर्य्य का उदय होता न अस्त। अपितु वह इस रोदसी ब्रह्माण्ड में वृहतीछन्द पर स्थिर रूप से ही प्रतिष्ठित है, जिसके चारों ओर अपने क्रान्तिवृत्त के आधार पर भूपिण्ड परिक्रमा लगाता रहता है। चन्द्रमा का एक पारिभाषिक नाम 'सोम' भी है, जैसा कि—'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यच्चन्द्रमा' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। एवमेव भूपिण्ड का एक पारिभाषिक नाम पूषा' भी है जैसा कि—'इयं वै पृथिवी पूषा' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। यह पूषा, और सोम अर्थात् भूपिण्ड एवं चन्द्रमा दोनों देवरथात्मक अपने अपने क्रान्तिवृत्त-तथा दक्षवृत्तों के आधार पर सूर्य्य को केन्द्र बनाते हुए सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। इनकी इस परिक्रमा से सौर मधुरस का इन दोनों में आदान होता रहता है, जो कि मधुरस पार्थिव प्रजा के जीवन का आधार माना गया है। इसप्रकार अपनी परिक्रमा से ये दोनों मानों विश्वप्रजा का क्षेम ही व्यवस्थित कर रहे हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर वेदपुरुष ने कहा है—

सोम, पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्योर्हिता ॥

—ऋक् संहिता।

(गूलर) नामक वृक्ष के एतन्नामक फलों में नक्षत्रों में 'लुब्धक' आ पशुपतिनक्षत्र में इस ऊक् रसात्मक सर्वरस का विशेष आधान माना है। यह त्रिवृत्पर्वक, स्वयमपि ज्योतिर्लक्षणया मह आप्यरसात्मक ऊर्क् ही अन्तर्याम्यसम्बन्ध के द्वारा प्राण के साथ सायुज्यभाव प्राप्त हुआ दूसरे शब्दों में स्थितिभाव में आता हुआ प्राणरूप में परिणत आता है। निष्कर्षतः प्राण एवं अन्न की मध्यावस्था ही 'ऊर्क्' है इसप्रकार पूर्वकथनानुसार अन्न से ऊर्क्, ऊर्क् से प्राण का विकास प्राणनाश का पुनः आगरण, पुनः अन्नाहरण इत्यर्थरूपेण जो आगमा अन्योऽन्य अनुप्राण-अनुप्राणात्मक क्रम प्रवृत्त है, चल रहा है, आगा सौरपर्यन्त चलता रहेगा वही आध्यात्मिक यज्ञ माना गया है।

अब इन शब्दों में अभिभूत तथा अधिदैवत यज्ञों के स्वरूप का समन्वय कर लीजिए। स्पष्ट है कि ज्योतिष्मात्मक आग्नेय मण्डल 'बृहतीछन्दस्' नामक विषुवद्वृत्त के कन्द्र में स्थिरतया स सहस्रांशु स प्रतिष्ठित है, जैसा कि—'सूर्यो बृहतीमध्यूढस्तपति'—'बृहद् तर सुवनस्य'—'नैवोदेता नास्तमेता मध्य एकल एव स्थाता' इत्यादि श्रुतियों स समर्थित है। वैदिक विज्ञान के माध्यम स परम वर्तमान आधुरम्य-शिक्षाप्राप्त जहाँ भूपिण्ड का 'स्थिर एवं सूर्य का' मान रहा है वत्तमान भूविज्ञानवादी जहाँ पृथिवी को चल एवं सू का स्थिर मान रहा है वहाँ भारतीय वैदिक विज्ञान की दृष्टि से इन सि चर-भावों का अपेक्षाभाव से ही सम्बन्ध माना गया है। इत्यस्थिति अनुसार पृथिवी स्थिर है, चरा है चरित्री है, एवं सूर्य गतिमान यह स्वयम्भिर्ण हा—

आकृष्णेन रजसावर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च ।
हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित है। किन्तु प्रकृति की स्थिति की
या से पृथिवी-गतिमती है, सूर्य्य तदपेक्षया स्थिर है। पूर्वोक्त वचन
प्राकृतिक स्थिति की दृष्टि से सूर्य्य को स्थिर मान रहे हैं, पृथिवी को
। 'नैवोदेता नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता' इत्यादि आम्रो
ति कह रही है कि सूर्य्य का जो उदय तथा अस्त माना जाता है,
गर्भित परिभ्रमणनिबन्धन ही है। वस्तुतः न सूर्य्य का उदय होता न
। अपितु वह इस रोदसी ब्रह्माण्ड में बृहतीछन्द पर स्थिर रूप से ही
ष्ठित है, जिसके चारों ओर अपने क्रान्तिवृत्त के आधार पर भूपिण्ड
क्रमा लगाता रहता है। चन्द्रमा का एक पारिभाषिक नाम 'सोम'
है, जैसा कि—'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यश्चन्द्रमा'
गादि श्रुति से स्पष्ट है। एवमेव भूपिण्ड का एक पारिभाषिक नाम
ा' भी है जैसा कि—'इयं वै पृथिवी पूषा' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित
। यह पूषा और सोम अर्थात् भूपिण्ड एवं चन्द्रमा दोनों ईश्वरयात्मक
ने अपने क्रान्तिवृत्त-तथा दक्षवृत्तों के आधार पर सूर्य्य को केन्द्र बनाते
: सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। इनकी इस परिक्रमा से
र मधुरस का इन दोनों में आदान होता रहता है जो कि मधुरस
र्थिव प्रजा के जीवन का आधार माना गया है। इसप्रकार अपनी
रेक्रमा से ये दोनों मानों विश्वप्रजा का क्षेम ही व्यवस्थित कर रहे हैं।
सी रहस्य को लक्ष्य में रख कर वेदपुरुष ने कहा है—

सोमः, पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्योर्हिता ॥

—ऋक् संहिता।

(गूलर) नामक वृक्ष के एकत्मक पत्तों में नक्षत्रों में 'तुम्बरु' म
पशुपतितन्त्र में इस ऊक् रसात्मक सर्वरस का विशेष व्याख्यान मान्य
है। इस पिप्पलक, स्वयमपि उदीरितस्वरूप यह अमरसात्मक ऊ
ही अन्तर्यामसम्बन्ध के द्वारा प्राण के साथ सायुज्यभाव प्राप्त क
हुआ दूसरे शब्दों में स्थितिभाव में आता हुआ प्राणरूप में परिण
जाता है। निष्कर्षतः प्राण एवं अन्न की अव्यावस्था ही 'ऊक्'
इसप्रकार पूर्वकथनानुसार अन्न से ऊर्क्, ऊक् से प्राण का विवर
अन्तिनाय का पुनः आगरण, पुनः अन्नाहरण इत्यवर्तनरूपेण जो भारत
अन्योन्य अनुभाव अनुग्रहात्मक क्रम प्रक्रान्त है, चल रहा है, यावत
भोगपर्यन्त चलता रहेगा, वही आध्यात्मिक यज्ञ माना गया है।

अब दो शब्दों में अधिभूत तथा अधिदैवत पक्षों के स्वरूप का
समन्वय कर लीजिए। स्पष्ट है कि ज्योतिष्याभामक भगवतीय मण
'बृहतीछन्द' नामक विषवद्वृत्त के केन्द्र में स्थिररूप से सहस्रांशु
प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि—'सूर्यो बृहतीमध्यूढस्तपति'—'बृहद् व
भुवनपन्त'—'नैवोदेता नास्तमेता मध्य एकल एव स्था
इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है। वैदिक विज्ञान के सम्यक् से परा
वर्तमान आधुनिकविज्ञान जहाँ भूपिण्ड को 'स्थिर एवं सूर्य को
मान रहा है, प्राचमान भूतविज्ञानवादी जहाँ पृथिवी का चल एवं
को स्थिर मान रहा है, वहाँ भारतीय वैदिक विज्ञान की दृष्टि से इन
चर-भावों का अपेक्षाभाव से ही सम्बन्ध माना गया है। इसविधि
अनुसार पृथिवी स्थिर है, चल है, परिक्रमा है, एवं सूर्य गतिमान
यह स्पष्टविज्ञप्ति ही—

आकृष्णेन रजसावर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च ।
हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

इत्यादि वेदमन्त्र से प्रमाणित है। किन्तु प्रकृति की स्थिति की पेक्षा से पृथिवी-गतिमती है, सूर्य्य तदपेक्षया स्थिर है। पूर्वोक्त वचन भी प्राकृतिक स्थिति की दृष्टि से सूर्य्य को स्थिर मान रहे हैं पृथिवी को न। 'नैवोदेता नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता' इत्यादि श्रुति बता रही है कि, सूर्य्य का जो उदय तथा अस्त माना जाता है, वह पार्थिव परिभ्रमणनिबन्धन ही है। वस्तुतः न सूर्य्य का उदय होता न अस्त। अपितु वह इस रोदसी ब्रह्माण्ड में बृहतीछन्द पर स्थिर रूप से ही प्रतिष्ठित है, जिसके चारों ओर अपने क्रान्तिवृत्त के आधार पर भूपिण्ड परिक्रमा लगाता रहता है। चन्द्रमा का एक पारिभाषिक नाम 'सोम' भी है जैसा कि—'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यच्चन्द्रमा' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। एवमेव भूपिण्ड का एक पारिभाषिक नाम 'पूषा' भी है, जैसा कि—'इयं वै पृथिवी पूषा' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। यह पूषा, और सोम अर्थात् भूपिण्ड एवं चन्द्रमा दोनों वेदरचनात्मक अपने अपने क्रान्तिवृत्त-तथा दक्षवृत्तों के आधार पर सूर्य्य को केन्द्र बनाते हुए सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। इनकी इस परिक्रमा से और मधुरस का इन दोनों में आदान होता रहता है, जो कि मधुरस पार्थिव प्रजा के जीवन का आधार माना गया है। इसप्रकार अपनी परिक्रमा से वे दोनों मानों विश्वप्रजा का क्षेम ही व्यवस्थित कर रहे हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर वेदपुरुष ने कहा है—

सोमा, पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्योर्हिता ॥

—ऋक् संहिता ।

भूपिण्ड परिभ्रममाण है, इस दृष्टि से परिचित भी वर्त्तमान सम्भवतः इस दृष्टि का कोई निश्चयात्मक समाधान अब तक न कर होगा कि भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर घूमता क्यों है ?। जब कि वैदिक विस्पष्ट शब्दों में इस 'क्यों' का भी समाधान कर रहा है। देखिए !

यज्ञ इन्द्रमवर्धयत्, यद् भूमिं व्यवर्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥

—ऋक् संहिता।

मन्त्र का अक्षरार्थ यही है कि "यज्ञ ने सौर इन्द्रप्राण को बलवान किया। यज्ञबल से बलवान बने हुए वृषभ रूप सौर इन्द्र ने अपने रश्मि रूप सींगों से भूपिण्ड पर प्रचण्ड आघात किया, एवं इस आघात से इन्द्र ने भूपिण्ड को घुमा डाला।" मन्त्रानुगत यज्ञ इन्द्र ओपश, भूमि आदि का क्या तात्त्विक स्वरूप है ? प्रश्न के समाधान के लिए भूविज्ञानवादियों को वैदिकविज्ञान की शरण में ही आना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि दृश्य स्थिति जहाँ भूपिण्ड को स्थिर, एवं सूर्य्य को चल मान रही है वहाँ प्राकृतिक स्थिति की अपेक्षा से भूपिण्ड चल है, सूर्य स्थिर है। वर्तमानयुग के वे वेदाभिमानी भारतीय आर्यसज्जन पुराणशास्त्र के रहस्यात्मक समन्वय से वञ्चित रहते हुये 'पुराण' को 'गप्प' मान बैठने का जघन्य प्रयत्न करते रहते हैं, उन्हें पुराणशास्त्र

"नैवास्तमनमर्कस्य—नोदयः सर्वदा सतः ।
उदयास्तमनं चैव—दर्शनादर्शनं रवेः ॥"

इस वचन की ही आराधना करनी चाहिए जो विस्पष्ट शब्दों में पूर्व वैदिक पार्थिव परिभ्रमणसिद्धान्त का अक्षरशः अनुगमन करता हुआ

'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इस चिरन्तन आस्था को इस-मूल प्रमाणित कर रहा है।

क्या यह स्थिर-चर विमर्श सूर्य्य पर ही परिसमाप्त है ?। नहीं। अभी तो वह तीसरा दृष्टिकोण और शेष है, जिसका सृष्टिमूला विश्वविद्या से सम्बन्ध माना गया है एवं जिसका वर्त्तमान भौतिक विज्ञान ने वर्त्तमानयुग पर्य्यन्त तो संस्पर्श भी नहीं किया है। सृष्टिमूला विश्वविद्या के रहस्यपूर्ण विज्ञानसिद्धान्त के अनुसार महतया स्थिर बना रहने वाला सूर्य्य भी तत्त्वतः आत्यन्तिक रूप से 'स्थिर' नहीं है। अपितु परिभ्रममाणा सचन्द्रा पृथिवी को अपने ज्योतिर्म्मय हिरण्मय मण्डल की महिमा के गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले सूर्य्यनारायण आपोमूर्त्ति 'परमेष्ठी' के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। इन सब विवर्तों को बुद्बुदवत् स्वगर्भ में भुक्त रखने वाले परमेष्ठी क्या स्थिर हैं ?। नहीं। ये भी इन सब विवर्तों को साथ लिए हुये 'स्वयम्भू' के चारों ओर परिभ्रममाण हैं। जिन इन दोनों सौर-पारमेष्ठ्य परिभ्रमणविधाओं के आधार पर ही विश्व की दशाविधा महाविद्याओं का वितान हुआ है, जो अन्य वक्तव्य का विषय है। स्वयम्भू सत्य सर्वथा स्थिर है, जिसे 'परमाकाश' माना गया है एवं जिसका-'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है। भूपिण्ड से आरम्भ कर पारमेष्ठ्य मण्डल पर्य्यन्त सम्पूर्ण मण्डलचक्र मण्डपरूप से परिभ्रममाण है। यही गतिरूप परिभ्रमण एक दूसरे मण्डल-पिण्डों में परस्पर आदान-विसर्ग सम्बन्ध प्रमाणित किए हुए है। आदानविसर्गात्मक यही विश्वप्रक्रिया आधिदैविक नित्य यज्ञ का एक प्रकार का दृष्टान्त है जिसका प्रत्यक्षतः भौतिक सूर्य्यपिण्ड के माध्यम से निम्न लिखित रूप से समन्वय किया जा सकता है।

भूपिण्ड परिभ्रममाण है, इस दृष्टि से परिचित भी वर्तमान वि
सम्भवतः इस दृष्टि का कोई निश्चयात्मक समाधान अब तक न कर
होगा कि भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर घूमता क्यों है ? । जब कि वेदवि
निम्न शब्दों में इस 'क्यों' का भी समाधान कर रहा है । देखिये !

यत्र इन्द्रमवर्द्धयत्, यद् भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥

—ऋक् संहिता ।

मन्त्र का अक्षरार्थ यही है कि, "यज्ञ ने सौर इन्द्रप्राण का वर्द्धन
किया । यज्ञबल से बलवान् बने हुए वृषभ रूप सौर इन्द्र ने अपने र
रूप सींगों से भूपिण्ड पर प्रचण्ड आघात किया, एवं इस आघात
इन्द्र ने भूपिण्ड को घुमा डाला । मन्त्रानुगत यज्ञ, इन्द्र ओपश
आदि का क्या तात्त्विक स्वरूप है ? प्रश्न के समाधान के लिये
भूतविज्ञानवादियों को वैदिकविज्ञान की शरण में ही आना चाहिये ।
हमने देखा कि दृश्य स्थिति जहाँ भूपिण्ड को स्थिर, एवं सूर्य्य का
मान रही है वहाँ प्राकृतिक स्थिति की अपेक्षा से भूपिण्ड चल है,
स्थिर है । वर्त्तमानयुग के वे वेदाभिमानी भारतीय आयसन्तान
पुराणशास्त्र के रहस्यात्मक समन्वय से वञ्चित रहते हुये 'पुराण
'गप्प' मान बैठने का अपन्य प्रयत्न करते रहते हैं, उन्हें पुराणशास्त्र

"नैवास्तमनमर्कस्य–नोदय सर्वदा सतः ।
उदयास्तमनं चैव–दर्शनादर्शनं रवे ॥"

इस वचन की ही आराधना करनी चाहिये जो विस्पष्ट शब्दों में पृ
वैदिक पार्थिव परिभ्रमणसिद्धान्त का अक्षरशः समर्थन [illegible]

मतप्रवित सिद्धान्तानुसार सप्तपवसानात्मक अवसानकाल में सूर्य्य स्वप्रभव आपोमय उस पारमेष्ठ्य सत्सोम नामक महासमुद्र में विलीन हो ही जायगा, जिस इस पिण्डात्मक आङ्गिरस सूर्य्य की उस पारमेष्ठ्य समुद्र के समतुलन में-'द्रप्सश्चस्कन्द' इत्यादि वेदमन्त्रानुसार एक बिन्दु के समान स्वरूपस्थिति मानी गई है अतएव इसी वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार जो सूर्य्य पुराणशास्त्र में इस पारमेष्ठ्य समुद्र के समतुलन में एक स्वल्पकाय बुद्बुद ही माना गया है। आपोमय पारमेष्ठ्य महासमुद्र में भृगुमलात्मक मार्गव तथा आङ्गिरस भाव इतस्ततः प्रवरवेगों से अनुधावन करते रहते हैं। मार्गव द्वारा सौम्य भावों से समन्वित आङ्गिरस दाहक आग्नेय अतमाप शत-सहस्र-लक्ष-कोटि-अर्बुद-परिणामों से मित प्रचण्डतम अग्निपुञ्जों-अग्निर्शिखाओं के रूप में परिणत रहते हुए उस महासमुद्र में इतस्ततः भैरवात्मक भीषण रव-भीषण-गर्जन-तर्जन रूप से इतस्ततः चंक्रमण करते हुए दोधूयमान हैं, जोकि इत्थंभूत वे पारमेष्ठ्य आङ्गिरस अतागिनपुञ्ज-'इरया धूमकेतव' इत्यादि श्रुति के अनुसार धूमकेतु कहलाते हैं। सहस्र-सहस्र-संख्यानुगत इन धूमकेतुओं में से कोई सा एक धूमकेतु-एक आङ्गिरस अतागिनपुञ्ज स्वयम्भूप्रजापति की इच्छाशक्ति-केन्द्र-शक्ति से शनैः शनैः केन्द्रीभूत बनता हुआ कालान्तर में-'सहृदय सशरीरं सत्यम्' इस लक्षणानुसार केन्द्रावच्छिन्न पिण्डरूप में परिणत होता हुआ व्यक्त हो पड़ता है-इस पञ्चपर्वा मण्डल के केन्द्र में। यही हिरण्यगर्भ सूर्य्यनारायण का आविर्भाव का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

इत्थंभूत सूर्य्यनारायण अपनी प्राण तथा भूतमात्राओं को अजस्ररूप से भूतर्ग लिङ्ग प्रज्ञानसर्पनिर्माण में विसर्ग करते रहने के कारण कोई

सहस्रांशु सूर्य्य बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित है यह निवेदन किया जा चुका है। अत्र प्रतिष्ठित सूर्य्यनारायण अपने सावित्राग्निगर्भित-गायत्री-मात्रिक तत्त्ववेदावच्छिन्न—ब्रह्मज्योतिर्म्मय—सहजसिद्ध रवि-प्रेरित वेद, भ्रादानविसर्गभावापन्न प्राणापानरूप रोचनामय रश्मिभावों से विप्र-नुगता रोदसी त्रिलोकी में सुक्त-गर्भित-प्रतिष्ठित पार्थिव, आन्तरिक्ष, दिव्य-पदार्थों के मानव-पशु-पक्षी-कृमि-कीटादि जङ्गम जीवों के, ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्मादि अन्तःसंज्ञ जीवों के एवं धातुधातु-रसोपरस-विषोपविष लोष्ट-पाषाणादि असंज्ञ स्थावर जीवों के स्वरूप-निर्म्माण में प्रतिक्षण विस्रस्त होते रहते हैं। अर्थात् सौर प्राण प्रवर्ग्य बन कर सूर्य्य के महोक्थभाग से पृथक् होकर यथोक्त भूत-भौतिकादि स्थावर जङ्गम पदार्थों का स्वरूपनिर्म्माण किया करता है, जैसाकि—'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः, अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि'—'अस्य प्राणादपानती व्यख्यन् महिषो दिवम्' इत्यादि मन्त्रश्रुतियों से प्रमाणित है। अवश्य ही इस सम्बन्ध में यह तो मान ही लेना पड़ेगा कि, सौरमण्डल के सान्निध्य में कोई वैसा अजस्र स्रोत सुरक्षित है, जिससे अपने प्राणात्मक भूतों को इन पदार्थों के निर्म्माण में प्रभूतमात्रा से अनवरत विस्रस्त करते हुए भी, खर्च करते हुए भी सूर्य्यनारायण कभी स्वप्राण भूतस्वरूप से सर्वात्मना क्षीण नहीं हो जाते, निःशेष नहीं बन जाते। प्राणात्मक भूत के ज्योतिर्म्मय पिण्ड रूप प्रत्यक्ष दृष्ट सूर्य्यनारायण यदि अपनी प्राणमात्राओं तथा भूतमात्राओं से यों निरन्तर विस्रस्त होते रहते हैं, तो अवश्य ही इन्हें कालान्तर में विनष्ट हो जाना चाहिए था, स्वस्वरूप से विलीन हो जाना चाहिए था।

और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि-'संयोगा विप्रयोगान्ताः मरणान्ता मनुष्यम्' जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इत्यादि

प्राकृतिक सिद्धान्तानुसार सूर्य्यावसानात्मक अवसानकाल में सूर्य्य क्रमशः आपोमय उस पारमेष्ठ्य सरस्वान् नामक महासमुद्र में विलीन हो ही जायगा, जिस इस विश्वात्मक आङ्गिरस सूर्य्य की उस पारमेष्ठ्य समुद्र के समतुलन में-'द्रप्सश्चस्कन्द' इत्यादि वेदमन्त्रानुसार एक बिन्दु के समान स्वरूपस्थिति मानी गई है, अतएव इसी वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार जो सूर्य्य पुराणशास्त्र में इस पारमेष्ठ्य समुद्र के समतुलन में एक स्वल्पकाय बुद्बुद ही माना गया है। आपोमय पारमेष्ठ्य महासमुद्र में अवमात्मात्मक भार्गव तथा आङ्गिरस प्राण इतस्ततः प्रचण्डवेग से अनुधावन करते रहते हैं। भार्गव सोम सौम्य प्राणों से समन्वित आङ्गिरस दाहक आग्नेय अवप्राण शत-सहस्र-अयुत-कोटि-अर्बुद-परिमाणों से सिद्ध प्रचण्डतम अग्निपुञ्जों-अग्निशिखाओं के रूप में परिणत रहते हुए उस महासमुद्र में इतस्ततः भैरवात्मक भीषण रव-भीषण गर्जन-तर्जन रूप से इतस्ततः चंक्रमण करते हुए धाधूयमान हैं, जोकि इत्थंभूत ये पारमेष्ठ्य आङ्गिरस अवाग्निपुञ्ज-'इरमा धूमकेतवः' इत्यादि श्रुति के अनुसार धूमकेतु स्वरूप हैं। सहस्र-सहस्र-संख्यानुगत इन धूमकेतुओं में से कोई सा एक धूमकेतु-एक आङ्गिरस अवाग्निपुञ्ज स्वयम्भूप्रजापति की इच्छाशक्ति-केन्द्र-शक्ति से शनैः शनैः केन्द्रीभूत बनता हुआ अन्तरिक्ष में-'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' इस लक्षणानुसार केन्द्रावच्छिन्न पिण्डरूप में परिणत होता हुआ व्यक्त हो पड़ता है-उस पाञ्चभौतिक महार्णव के केन्द्र में। यही हिरण्यगर्भ सूर्य्यनारायण के आविर्भाव का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

इत्थंभूत सूर्य्यनारायण अपनी प्राण तथा भूतमात्राओं का अवक्षरण से भूतभेद मिश्र प्रज्ञात्मकपरिग्रहों में विसर्जन करते रहने के कारण कोई

सनातन तत्त्व नहीं है। अवश्य ही कभी न कभी अपने इस पिण्डभाव से विलीन हो ही जाना पड़ेगा अपनी मूलभूता उसी अग्निपुञ्जमूला व्यक्तावस्था में आकर। पुनः किसी अन्य अग्निपुञ्ज से अन्य सूर्य का आविर्भाव होगा। और यों सम्भूति एवं विनाशात्मक यह सृष्टि-क्रम-क्रम 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' रूप से निरन्तर चलता ही रहेगा। यह सब कुछ मान लेने पर भी एक सृष्टिकाल से आरम्भ कर सृष्टि के अवसान पर्य्यन्त जिस कौशल से तथा जिस जागरूकता से सूर्य्यनारायण अपने प्राण, तथा भूतों का विस्र सन कर रहे हैं, धाराप्रवाहिकरूप से सृष्टिकाल-पर्य्यन्त अक्षय बने रहने वाला यह विस्र सनधर्म्म ही यह प्रमाणित करने के लिए पर्य्याप्त हेतु है कि, जिस प्रकार शतायुर्भोगकालात्मक मानव-जीवन में हम अपनी प्राण-भूत-मात्राओं का अजस्र दान-विसर्ग-विस्र-सन-करते हुए भी पूर्वनिर्दिष्ट आग्नेयी प्राणों के अन्योऽन्य-परिग्रहात्मक आध्यात्मिक प्राणसञ्चार के अनुग्रह से स्वप्राण-भूत-सम्पत्तियों को अपनी अध्यात्मसंस्था को सौ वर्ष की अवधि पर्य्यन्त सुरक्षित रख लेने में समर्थ बने रहते हैं, ठीक इसी प्रकार मानववर्षानुपात से ४३ १२,-०० ०००० तिर्यालीस अरब बत्तीस करोड़ वर्षात्मक सूर्य्यनारायण के शतायुर्वर्षात्मक जीवनकाल में निश्चयेनैव सूर्य्यनारायण भी स्व-प्राण-भूतमात्राओं की दान-विस्र सन-विसर्ग मात्रों की क्षतिपूर्ति के लिए किसी आदानविसर्गात्मक वैसे महान् अन्नकोशात्मक प्राण की अपेक्षा रखते ही होंगे जिस कोशाग्र के धाराप्रवाहिक संक्रमण से इनकी अपनी आयु की अवधि पर्य्यन्त इनका स्वरूप सुरक्षित रहता है। वही अन्नकोश इनका विच्छिन्नसम्भाता क्षतिपूरक बनता रहता होगा जो कि अन्नकोश सूर्य्यनारायण को प्राण तथा भूतराशियाँ प्रदान करता रहता है, इस महान् अन्न का निरन्तर सौरसावित्राग्निमात्राओं के साथ जो अन्तर्य्याम

न्म सृष्टिदशा में प्राक्रान्त है, वही 'यज्ञ' कहलाया है। दूसरे शब्दों रमाग्य तथा भूताग्नि के साथ सहजसिद्ध इस महान् अमक्रोश का नत्रस आहुतिसम्बन्ध है, वही सौरमाग्यात्मक देवभाव की अपेक्षा वों 'आधिदैविकयज्ञ' कहलाया है वहाँ वही सौरभूतभाव के अनु- से 'आधिभौतिकयज्ञ' कहलाया है। इसप्रकार सौरयज्ञ इन दोनों प्रस्थाओं की आधारभूमि बना हुआ है। इसी अमाहुति को लक्ष्य कर एक स्थान में ऋषि ने-'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्' इत्यादि रूप सूर्य्य को 'अग्निहोत्र' नाम से व्यवहृत किया है।

प्राणात्मक इस सौर सावित्राग्नि में निरन्तर ही किसी न किसी अमा- ऽ वस्तुविशेष की आहुति पड़ती रहती है। यह ही रहस्यपूर्ण अतएव वारसापेक्ष है यह विषय कि, उस अम का क्या स्वरूप है ? वह प्रतिष्ठित है ? कौन उसकी आहुति देता है ? आहुतिद्रव्य आहुत कर किन किन भावों में परिणत हो जाता है ? इत्यादि सृष्टिविज्ञानानुबन्धी ारम्भ मरन इस स्वल्पकाय वक्तव्य में कदापि समाहित नहीं हो सकते। के लिए तो वैदिक विज्ञानविश्लेषक ब्राह्मणग्रन्थों के आधार से संहिता- स्त्र का अध्ययन ही अपेक्षित होगा। प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल ही संस्मरणीय है कि—

त्वमिमा ओषधी सोम ! विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमाततं थोरन्तरिक्ष त्व ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥

"हे सोमदेवते ! आप ही ने सम्पूर्ण ओषधियों को जीवनीय सौम्य स प्रदान किया है। आप ही ने पारमेष्ठ्य मार्गव अपूतत्त्व को उत्पन्न किया है। आप ही ने-पारमेष्ठ्य पावराह नामक गोसप यज्ञ की मूला-

धारभूता-ऋद्-ऋक्-समन्विता प्राणाग्निमय गौ को उत्पन्न किया है। ही अपने सहजसिद्ध ज्योतिरूप से इस ज्योतिर्मयात्मक विशाल सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। और आप ही नें अपने (ऋग्गुण) से रखने वाले ज्योतिर्माव से इस त्रैलोक्य के घनीभूत अन्धकार को कर सर्वत्र प्रकाश कर दिया है" इत्यादि अक्षरार्थ से समन्वित मन्त्र के द्वारा उपवर्णित 'अम्मः'-'पवमान'-पवित्र" आदि। रा उपस्तुत, 'महायस्तुति' नाम से याज्ञिक परिभाषा में प्रसिद्ध याजगुणाक मार्गव सोमतत्त्व ही वह विशेषतत्त्व है, जिसकी स सावित्राग्नि में अजस्ररूपेण 'आहिति' होती रहती है, जो कि, 'आहि शब्द ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में-'आहुति' नाम से प्रसि हुआ है।

सौर हिरण्मय मण्डल में आप जो यह ज्योतिर्मय प्रकाश विकसित हो रहे हैं क्या यह स्वयं सूर्य्य का प्रकाश है ? । नहीं । क्यों सौरसावित्राग्नि का तो कोई अपना व्यक्त भौतिक स्वरूप ही नहीं है यदि अभ्युपगमवाद से इस प्राणाग्नि का कोई स्वरूप किंवा वर्ण भी लिया जायगा, तो वह 'कृष्ण' ही होगा जो कि अव्यक्तभाव समसम्बन्धी बना रहता है । इसीलिए तो सूर्य्य की रजोमावाग्नि प्राणाग्निरश्मियाँ 'कृष्ण' वर्णरूप से ही उपस्तुत हैं। देखिए !

आकृष्णेन रजसावर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च ।
हिरण्मयेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

अपने इसी प्राणात्मक कृष्णभाव से सौरप्राणाग्नि सुसूक्ष्मदृष्टि अन्वेषण का ही लक्ष्य माना गया है । यही अन्वेषणभाव पारिभाषा से 'मृगस्याद' कहलाया है। एवं इसी मृगस्याख्या स यह वेदत्रयीम

(मोणाग्नि 'मृग' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, जैसाकि निम्न लिखित
त्र-श्रुतियों से प्रमाणित है—

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताळ्हि वि मृधो नुदस्व ॥
—ऋक्सं० १ ।१८०।२

'योऽयमेतर्हि–अग्निः–स मीपा निलिल्ये' (शत० १।२।३।१)
स कृष्णो मृगो भूत्वा चचार (शत १।१४।१)–
यज्ञो हि वै कृष्ण (मृग) (शत १। ।१।२८) ।

यह सुविदित है कि, आर्यप्रजा कृष्णमृगचर्म्म (काले हरिण के
र्म) को आरम्भ ही पवित्र मानती है, जबकि दूसरी ओर अन्य चर्म्मों
स्पर्शमात्र से भी यही प्रायश्चित्त का विधान करती है । क्या महत्त्व
कृष्णमृग का एवं इसके चर्म्म का ? प्रश्न साधारण है, किन्तु
साधान महारम्भ और सावित्राग्निविज्ञान के वास्तविक समन्वय पर
वलम्बित है । यदि इस सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय तो
युक्ति न होगी कि, भारतवर्ष की सम्पूर्ण गौरवगाथा इस 'कृष्णमृग'
म के गर्भ में ही अन्तर्निहित है जिसके रहस्य का समन्वय केवल
त्र-मूलविज्ञान के माध्यम से कथमपि समन्वित नहीं हो सकता ।
र्तमान युग के पुरातत्त्ववेत्ता, तथा इतिहास के मर्म्मज्ञ विद्वान् भाज
ारत नाम के समन्वय में परस्पर आहमहमिका के अनुगामी बने हुए
। यदि कोई महाभाग दौष्यन्ति भरत के माध्यम से इस देश की
ारत-अभिधा का समन्वय करने के लिए आतुर हैं, तो नास्तिसार
ष्य-पथ-वादी अमुक मतवादविशेष के ध्वंसरूप से अवशिष्ट एक
ग्रोप वर्ग यह वरा वापमदेव को प्रदान करने के लिए आकुल बना हुआ

धारमूर्ता-इद्-ऋक्-समन्विता प्राणाग्निका गौ को स्पष्ट किया है। ही अपने सहजसिद्ध स्वरूप से इस अवमावास्य विराज् प्रकाशित सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। और आप ही नें अपने (प्रमुख) से रखने वाले ज्योतिर्भाव से इस त्रैलोक्य के घनीभूत अन्धकार का कर सर्वत्र प्रकाश कर दिया है' इत्यादि अक्षरार्थ से समन्वित उक्त मन्त्र के द्वारा उपवर्णित 'अम्म '-'पवमान'-पवित्र'' आदि विविध से उपस्तुत 'ब्रह्मणस्पति' नाम से याज्ञिक परिभाषा में प्रसिद्ध पारमेष्ठ्य प्राणात्मक भार्गव सोमतत्त्व ही वह विशेषतत्त्व है जिसकी सावित्राग्नि में अन्नरूपेण 'आहिति' होती रहती है जो कि, 'आहि शब्द ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में-'आहुति' नाम से प्रसि हुआ है।

सौर हिरण्मय मण्डल में आप जो यह ज्योतिर्मय प्रकाश विकास देख रहे हैं क्या यह स्वयं सूर्य्य का प्रकाश है ? । नहीं । क्यों सौरसावित्राग्नि का तो कोई अपना स्वतः भौतिक स्वरूप ही नहीं है यदि अभ्युपगमवाद से इस मात्राग्नि का कोई स्वरूप किया वर्ग भी लिया जायगा, तो यह 'कृष्ण' ही होगा, जो कि अन्धकारभाव समसम्बन्धी बना रहता है। इसीलिए तो सूर्य्य की रश्मोमात्रात्मि मात्राग्निरश्मियाँ 'कृष्ण' वर्णरूप से ही उपस्तुत हैं। देखिए !

आकृष्णेन रजसावर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च ।
हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

अपने इसी मरणात्मक कृष्णाभाव से सौरप्राणाग्नि मृत्युदृष्टि अन्वेषण का ही लक्ष्य मान्य गया है। यही अन्वेषणाभाव पारिभाषा से 'मृगयमाण' कहलाया है। एवं इसी मृगयमाणता से यह यज्ञीया

२। अतएव कृष्णमृगचर्म्म इसी सामान्यातिशय से त्रयीविद्या का प्रतिरूप बना हुआ अत्यन्त ही पवित्र समाश्रित हो रहा है। मृगमाला के उपनिपात से कौन आर्यमानव अपरिचित होगा ? जिसके बन्धन के बिना वेदविज्ञानाधिकारप्राप्तिसूचक यज्ञोपवीतसंस्कार ही सम्पन्न नहीं होता। कृष्णमृगचर्म्म के इसी अतिशय को लक्ष्य बना कर वेदभगवान् ने कहा है—

'अथ कृष्णाजिनमादत्ते—यज्ञस्यैव सर्वत्वाय। यज्ञो ह देवेभ्यो-ऽपचक्राम। स कृष्ण-मृगो भूत्वा चचार। तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छाय आजह्रुः। तस्य यानि शुक्लानि लोमानि, तानि साम्नां रूपम्। यानि कृष्णानि लोमानि, तान्यृचाम्। यान्येव बभ्रूणीव हरीणि लोमानि, तानि यजुषां रूपम्। सैषा त्रयीविद्या यज्ञः। तस्या एतच्छिल्पमेष वर्णः। तस्मात् कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते, यज्ञस्यैव सर्वत्वाय" (शत० १।१।४।१२,३, कण्डिका)। 'ब्रह्मणो वा एतद् ऋक्सामयो रूप, यत् कृष्णाजिनम्' (तै० ब्रा० २।७।३।१)। एतद्वै प्रत्यक्षब्रह्मवर्चसम्-(यत् कृष्णाजिनम्)'(तां० ब्रा० १७।११।८)। तस्य अग्नि-स्त्वो लोकः, यत् कृष्णाजिनम् (शत० ६।४।१।६)।

इस भेदभाव का अनुसरण करने वाले राजर्षि मनु ने इसी आधार पर अपना यह उद्घोष अभिव्यक्त किया कि—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥

—मनुः २।२३।

अन्यदपि—यस्मिन् देशे मृगः कृष्णास्तत्र धर्म्मं निबोधत॥

—स्मृति

है। महान् गौरव के साथ संस्मरणीय दौष्यन्ति भरत, किंवा वा अविस्मरणीय ऋषभदेव के भरतशरीर को अणुमात्र भी करते हुए इस दिशा में हमें सनातनसिद्ध उस मौल दृष्टिकोण की ही भारतराष्ट्र की आपप्रजा का ध्यान आकर्षित करना पड़ेगा, किसी मानवीय कल्पना से अणुमात्र भी सम्पर्क नहीं है। एवं दृष्टिकोण का विशुद्ध-आगमव प्राणविज्ञान। से ही सम्बन्ध है। जो हृदयभूत तात्त्विक विज्ञानसम्मत दृष्टिकोण ही इस महद्भाग पवित्रतम राष्ट्र की 'भारत' उपाधि का मुख्य आधार बना हुआ है।

'अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारत' इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनु इस राष्ट्र की यज्ञियप्रजा के भरण-पोषण का समस्त उत्तरदायि ग्रहण करने वाले स्वस्वरूप से कृष्णमृगात्मक, अतएव 'मृग' न 'भारत अग्नि' ही माने गए हैं, जो प्रकृतिसिद्ध नित्य चातुर्वर्ण्य की म से ब्राह्मणवर्ण से समन्वित है। 'अग्निर्वै देवेभ्यो हव्यं भ तस्माद् भारतोऽग्निः' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति भी इसी दृष्टिकोण विस्पष्ट शब्दों में स्पष्टीकरण कर रही है। यह भी मत्स्य सर्वजनीन कि भारतवर्ष किंवा पूर्वदेश अग्निप्रधान बनते हुए जहाँ ऐन्द्र हैं वहाँ प्रतीच्य देश अप्प्रधान बनते हुए 'वारुण देश' हैं। यह विग्रस शीघ्र अग्नि का देश है। अग्नि भारत है, अतएव यह 'भारत' कहलाया है जो हमारी भावुकता से कालान्तर में 'हिन्दुस किसी सीमित अभिधा पर विश्रान्त हो पड़ा है। भारतअग्नि ही कृष्णमृग है, जिस हृदयभूत भाग की प्रधानता से तत्प्राणीविशेष 'कृष्णमृग' नामों से प्रसिद्ध हो गया है। कृष्णमृग, अथवा हरित कृष्णमृगरूप त्रयीविद्यात्मक 'भारत' नामक प्राणाग्नि का ही प्रतिरूप वि

है । अतएव कृष्णमृगचर्म्म उसी माध्यातिशय से त्रयीविद्या का प्रतिरूप बनता हुआ अत्यन्त ही पवित्र प्रमाणित हो रहा है । मृगछाला के प्रभाव से कौन आर्यमानव अपरिचित होगा ? जिसके धारण के बिना वेदविज्ञानाधिकारप्राप्तिसूचक यज्ञोपवीतसंस्कार ही सम्पन्न नहीं होता । कृष्णमृगचर्म्म के इसी अतिशय को लक्ष्य बना कर श्रुतिभगवान् ने कहा है—

'अथ कृष्णाजिनमादत्ते—यज्ञस्यैव सर्वत्वाय । यज्ञो ह देवेभ्यो ऽपचक्राम । स कृष्णो-मृगो भूत्वा चचार । तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजह्रुः । तस्य यानि शुक्लानि लोमानि, तानि साम्नां रूपम् । यानि कृष्णानि लोमानि, तान्यृचाम् । यान्येव बभ्रूणीव हरीणि लोमानि, तानि यजुषां रूपम् । सैषा त्रयीविद्या यज्ञः । तस्या एतच्छिल्पमेष वर्णः । तस्मात् कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते, यज्ञस्यैव सर्वत्वाय'' (शत० १।१।४। १,२,३ कण्डिका)। 'ब्रह्मणो वा एतद् ऋक्सामयो रूपं, यत् कृष्णाजिनम्' (तै० ब्रा० २।७।३।२।)। एतद्वै प्रत्यक्षमब्रह्मवर्चसम्-(यत् कृष्णाजिनम्)'(तां० ब्रा० १७।११।८)। तस्य अग्नि—स्वो लोकः, यत् कृष्णाजिनम् (शत० ६।४।१।६।)।

उक्त श्रौतार्थ का अनुसरण करने वाले राजर्षि मनु ने इसी आधार पर अपना यह सदुपदेश अभिव्यक्त किया कि—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥
—मनु २।२३।

अन्यदपि—यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तत्र धर्म्मं निबोधत ॥
—स्मृति

कृष्णमृगचर्म्मानुबन्धिनी इस प्रासङ्गिकी पावनचर्चा को यहीं उप कर पुनः सौर यज्ञ की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है गर्भीभूत दाहकधर्म्माविच्छिन्न आङ्गिरस प्राणगर्भित इस सौर कृष्ण मृगाग्नि में दाह्यगुणक पारमेष्ठ्य भार्गव प्राणगर्भित भूत सोम की आहु होती है। दाहक मृगाग्नि के साथ सम्बन्ध करते ही दाह्य सोम प्रज्वलि हो पड़ता है। दाह्य-दाहक सोमाग्नि के सम्मिश्रण से समुद्भूत ज्योतिर्माव ही 'प्रकाश' रूप सम्वत्सरयज्ञ है, जिसमें तमःप्रधान अ कदापि प्रवेश नहीं कर पाते।

> यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
> मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से
> —ऋक् सं० १०।५४।२॥

इसी प्राकृतिक रहस्य का दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि ने कहा है- जब तक यह पारमेष्ठ्य सोम सौर अग्नि में आहुत होता रहे अग्नीषोमात्मक सौर यज्ञ तबतक स्वस्वरूप से सुरक्षित रहेगा जिस दिन कालपरिपाकात्मक निग्रह से सोमाहुति का सम्ब विच्छिन्न हो जायगा, उस समय यही सौराग्नि अपने प्रातिस्वि तिग्म तेज से रुद्रभाव में आकर 'रुद्र' रूप में परिणत हो जायगा यही रुद्रदेवता आरम्भ में चराचर विश्व को भस्मावशेष प्रमाणित कर हुए अन्ततोगत्वा स्वयमपि अपने अव्यक्त स्वरूप में विलीन हो जायँगे और यों अग्नीषोमात्मक इस आधिदैविक-आधिभौतिक यज्ञ के उपराम होते ही सृष्टिविकासात्मक पुण्याहकाल तो हो जायगा निर्लोप, प रात्रिकाल हो जायगा समुद्भूत, जिस इस सृष्टिसर्ग-लय भाव स्वयम्भूमूला सृष्टिविद्याओं के माध्यम से वेदशास्त्र में विस्तार

रूप हुआ हुआ है। सम्भूतिरूपा यज्ञसृष्टि एवं विनाशात्मा यज्ञप्रतिसृष्टि, सहवभावानुसार सर्ग, और प्रलय, दोनों ही इस प्राकृतिक यज्ञ के स्वरूप-धर्म्म ही माने गए हैं, जैसा कि औपनिषद पुरुष ने कहा है—

सम्भूतिं च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमस्नुते॥
—ईशोपनिषत

सूर्य्य तो उदाहरणमात्र है। आप जितने भी भूत-भौतिक पदार्थ देख रहे हैं, स्वस्वरूपसंरक्षण के लिए प्रत्येक पदार्थ स्व-स्वरूपानुपात से, प्राणाग्नि-कर्म्माग्नि-आकाशात्मक शब्दाग्नि वाय्वात्मक श्वासप्रश्वासाग्नि-अग्न्यात्मक तेजोऽग्नि-जलात्मक स्नेहनाग्नि-पार्थिवात्मक-अनुष्णाशीताग्नि-भेद से सात भागों में विभक्त प्राजापत्य किसी न किसी अग्नि की आहुति से आजन्मस्मपर्यन्त समन्वित रहता है। क्योंकि-'यत् सप्तान्नानि तपसा जनयत् पिता' इत्यादि श्रुति के अनुसार विश्वम्भर प्रजापति के महान तप से समुत्पन्न इस सप्तान्नाहुति पर ही प्रजात्मक भूतों की जीवनसत्ता अवलम्बित है।

जिस पदार्थ के साथ जिस अग्नि का अन्तर्य्याम सम्बन्ध हो जाता है वही उस पदार्थ का आहुतिद्रव्य मान लिया गया है। प्राणगर्भित भूताग्नि ही पदार्थ की स्वरूपपरिमापा है। यही आहुतिग्रहण करने वाला है। एवं इसी को-'अग्नमत्तीति' निर्वचन से 'अन्नाद' नाम से व्यवहृत किया गया है। इस अन्नाद में आहुत होने वाला द्रव्य ही 'अद्यते' निर्वचन से 'अन्न' कहलाया है। आहुतिग्राहक अन्नाद के साथ आहुतिद्रव्यात्मक अन्न का ग्रन्थिबन्धनात्मक जो अन्तर्य्याम सम्बन्ध है वर्तमान विज्ञानभाषा के अनुसार जो सम्भवतः रासायनिक सम्मिश्रण

मक सम्बन्ध है; यही 'यज्ञ' कहलाया है। और यही यज्ञ की सरल परिभाषा है। सभी पदार्थ अपेक्षा भेद से आतुविमाद्रक भी हैं, आतुरि- ग्रूप्य भी हैं। अतएव सभी अभाव हैं, सभी अन्न हैं। अभाव दशा में ये ही पदार्थ आग्नेय हैं, अन्नदशा में वे ही पदार्थ सौम्य हैं। सब अपेक्षा भेद से साथ आते रहते हैं सभी जाते भी रहते हैं। इसी आधार पर 'सर्वमिदमभाद', सर्वमिदमन्नम्। अग्निषोमात्मकं जगत्। इदं वा इदं न तृतीयमस्ति-यथा चैव आदश्च। शुक्रं चैव अन्नं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयम्, यदार्द्रं तद् सौम्यम्' इत्यादि निगमागमश्रुतियाँ व्यवस्थित हुई हैं।

पूर्वोपवर्णित यज्ञ के पदार्थस्वरूपसत् से सयज्ञ-सयज्ञात्मक अनन्त असंख्य भेद हो रहे हैं। निरूपित दोनों यज्ञों के समन्वय-तारतम्य से ही आध्यात्मिकाधिदैविक यज्ञ, आध्यात्मिकाधिभौतिक यज्ञ आधिभौतिका- धिदैविक यज्ञ दैवकारिकभौतिक यज्ञ आधिनाडिक यज्ञ मह-वाजपेय- राजसूय-चयन-अग्निष्टोम अत्यग्निष्टोम-उक्थ्योम्यमिस्तोम षोडशीस्तो- म-अतिरात्रस्तोम-अश्वमेध-राष्ट्रभृत-पुरुषमेध-गोसव-गोसव-पञ्चशारदीय नयाह-अभिप्लव-पृष्ठ्य-शुनःशेप-सौत्रामणी-इष्टि-चातुर्मास्य-दर्शपूर्ण- मास-पशुबन्ध ज्योतिष्टोम-गोष्टोम-आयुष्टोम-अप्तोर्यामस्तोम-आयुर्मस्ता म-आदि आदि भेद से असंख्य विवर्तभावों में परिणत भारतीय यज्ञविद्या विज्ञान का वह महाकोश है जिसे विस्मृत कर सचमुच आज भारतीय मानव केवल दर्शनव्यामोहन से ही व्यामुग्ध बन गया है। पुरुषयज्ञ-वन- स्पतियज्ञ-जन्तुयज्ञ-धातुयज्ञ-आदि आदि भेद से पञ्चयज्ञवत् समापर- सूक्ष्मात्मक भूतभौतिक विवर्त इस यज्ञसीमा में ही अन्तर्भुक्त हैं। ऋषि- पितर-देवता असुर गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच आदि आदि सर्वविध

ावर्ग भी इसी यज्ञ के आधार पर उपजीवित है। 'प्रजा स्यात् ता जने' के अनुसार जड़-चेतनात्मक वस्तुमात्र प्रजापति की 'प्रजा' ो मानी जायगी। अव्ययप्रधान विश्वेश्वर के अक्षरप्रधान विश्वकर्ता माध्यम से क्षरप्रधान विश्वात्मा नामक प्रजापति से मूलरूपेण जो ; भी व्यक्त है, यही तो प्रजापति का प्रजनन कर्म है। इस कर्म की ्ति ही तो प्रजाप्ति है, प्रजाति ही तो प्रजा है। तदुपचित्त्वनिबन्धन ही तो विश्वात्मा प्रजापति कहलाये हैं। क्या जानना चाहते हैं प कि, यह प्रजा किससे उत्पन्न हुई? तो आज इस प्रश्न के समा- न में भी हम उस गीताशास्त्र का ही एक वचन आपके समक्ष उपस्थित ो जिसका 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' इस रम्भसूत्र के आधार पर ही प्रस्तुत विज्ञानसमन्वय एकान्त बना है। गवान कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

—गीता ३।१०।

स्वयं प्रजापति ही मानों अनुग्रह कर अपने यज्ञविज्ञान के माध्यम से पनी प्रजा से कह रहे हैं—कौन से प्रजापति? स्मरण कीजिये र्भिमश्रिपादित यज्ञविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले पारिभाषिक परात्परा- मेत-अव्ययाक्षराक्षर की समष्टिरूप षोडशी प्रजापति का, जिनका नेम्न लिखित ऋगाथमापा में यों यशोगान किया है प्रजापतिविज्ञानवेत्ता भारतीय महर्षियों ने—

प्रजापते! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो, अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

—यजु ७। १०२।

ाबर्ग भी इसी पक्ष के आधार पर उपजीवित हैं। 'प्रजा स्यात् सर्वा सर्ने' के अनुसार जड़-चेतनात्मक यावन्मात्र प्रजापति की प्रजा' ही मानी जायगी। अव्ययप्रधान विश्वेश्वर के अक्षरप्रधान विश्वकर्मा माध्यम से क्षरप्रधान विश्वात्मा नामक प्रजापति से मूलरूपेण आ प्र भी व्यक्त है, यही तो प्रजापति का प्रजनन कर्म है इस कर्म की तुति ही तो मर्यादित है प्रजाति ही तो प्रजा है। तत्पतित्वनिबन्धन ही तो विश्वात्मा प्रजापति कहलाएँ हैं। क्या जानना चाहते हैं ाप कि, यह प्रजा किससे उत्पन्न हुई ? । तो आज इस प्रश्न के समा- ान में भी इस पथ गीताशास्त्र का ही एक वचन आपके समक्ष उपस्थित रेंगे जिसके 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत' इस ारम्भसूत्र के आधार पर ही प्रस्तुत विज्ञानसमन्वय उपक्रान्त बना है। ागवान कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता ३ । १ ।

स्वयं प्रजापति ही मानो अनुग्रह कर अपने यज्ञविज्ञान के माध्यम से अपनी प्रजा से कह रहे हैं—कौन से प्रजापति ? । स्मरण कीजिये पूर्वप्रतिपादित यज्ञविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले पारिभाषिक परम्परा- भिन्न-अव्ययाक्षरात्मक्षर की समष्टिरूप षोडशी प्रजापति का, जिसका निम्न लिखित ऋगात्मा में यों यशोगान किया है प्रजापतिविज्ञानवेत्ता भारतीय महर्षियों ने—

प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो, वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥
—यजु म० १०।२ ।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति, य आविवेश भुवनानि विश्वा
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
—यजुःसं० ८।३६।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्, यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
—उपनिषत्

ये ही प्रजापति मानो सृष्टि के व्यवस्था-प्रदाता के माध्यम से प्रजा को सम्बोधन कर यह कह रहे हैं कि "मैं सृष्टिनिर्माण कर रहा करता रहूँगा यज्ञ के ही द्वारा। अर्थात् भूतपरमाणुओं के अणु स्कन्ध-भावों के पारस्परिक अन्तर्याम-सम्बन्धात्मक, अतएव अपूर्वस सञ्जनात्मक सम्मिश्रण के द्वारा अन्न-अन्नाद के चितिभाव से ही तद यज्ञ से ही मेरा भूत-भौतिक सृष्टिक्रम शाश्वतीभ्यः समाभ्यः धारावा रूप से चल रहा है"। यह जो सृष्टि का शाश्वत सनातन नियम है, इ को महर्षियों ने-'यज्ञविज्ञान' उपाधि से विभूषित किया है। इस य विज्ञान के आधार पर जो वस्तुसंभाव उत्पन्न हुआ है, हो रहा है, होता रहेगा वह है-वैकारिक जगत् और यही विज्ञानशब्द के समन के लिये पुनः कुछ विशेषरूप से समझना है।

मौलिक तत्त्वात्मक ब्रह्मविज्ञान विज्ञान की प्रथम धारा है। एवं त तत्त्वात्मक ब्रह्मविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित यौगिक तत्त्व-सम्मिश्रणात्म विश्वस्वरूप-सम्पादक यज्ञविज्ञान विज्ञान की दूसरी धारा है। प्रथमधार पुरुषविज्ञानात्मिका ज्ञानधारा मानी गई है, एवं द्वितीय धारा प्रकृतिवि नात्मिका विज्ञानधारा कहलाई है। एवं आरम्भ में प्रतिपादित इन्हीं दो विज्ञानधाराओं का-'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' इस व

माध्यम से यथाक्रम आवश्यक समन्वय करने की चग्र हुई है। क्या
रतीय विज्ञानकाण्ड महाविज्ञानात्मक प्रकृतिविज्ञान पर ही परिसमाप्त
?, यह एक नवीन प्रश्न सहजरूप से ही उपस्थित हो पड़ता है भार-
य प्रज्ञा के सम्मुख, जिसका तथ्यपूर्ण समाधान करने में हम सर्वथा ही
सलिये असमर्थ हैं कि, इस प्रश्न के समाधान से सम्बन्ध रखने वाली
। तीसरी विकृतिविज्ञानधारा है जिसे वर्त्तमान दृष्टिकोणानुसार हम
गैतिकविज्ञान' कह सकते हैं, मेटिरियलसायन्स मान सकते हैं। इसके
म्बन्ध में दुर्भाग्यवश विगत कई एक शताब्दियों से केवल वचनमूलक
[क्षण' के ही व्यामोहन में व्यामुग्ध बनी रहने वाली भारतीय प्रज्ञा
ज्ञानमूलक 'परीक्षण' से सर्वथा ही पराङ्मुख बन गई है जिसके
;प्परिणामस्वरूप परीक्षणात्मक विकृतिविज्ञान के पारम्परिक मूलसूत्र
प्रनका सूत्ररूप से मूलसंहिताओं में एवं व्याख्यारूप से तदुपव्याख्यामूत
ाह्मणग्रन्थों में परिभाषाओं के माध्यम से विस्तार से विश्लेषण हुआ है।
ारिभाषाज्ञान की विलुप्ति पारिभाषिक शब्दों के विज्ञानसम्मत पारम्परिक
मर्वों के परिज्ञान का अभाव सर्वोपरि केवल ज्ञानात्मिका अगम्यिध्यात्म
ात्मभावना का काल्पनिक विजृम्भण, इत्यादि अनेक कारणप्रतिबन्धकों
से भारतीय प्रज्ञा आज सर्वथैव वञ्चित हो गई है प्रकृतिविज्ञानमूला
विकृतिविज्ञानधारा के सम्पर्क से।

इदमत्र विशेषरूपेण-अवधेयम्। 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस
श्रुतिगमश्रुति के आधार पर सम्पूर्ण भारतीय तत्त्वज्ञान को 'आत्मा,
ब्रह्म, यज्ञ, भूत,' इन चार पादों-विभागों-श्रेणियों में विभक्त किया जा
सकता है किया गया है। दर्शनभाषा में 'आत्मा' नामक प्रथम पाद को
'पुरुष' कहा जा सकता है, 'ब्रह्म नामक द्वितीय पाद को 'मूलप्रकृति'

स्पर्श–शब्द–भेद से पञ्चधा विभक्त सूक्ष्मसिद्धा–पञ्च तन्मात्राएँ, इन सातों आध्यात्मिक तत्त्वों की समष्टि 'प्रकृतिविकृति' है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ एक मन, तथा पृथिवी–जल–तेज वायु–आकाश–ये पाँच आध्यात्मिक भूत इन १६ सोलह विकारों की समष्टि ही सांख्यशास्त्र की 'विकृति' है। एकविधा मूलप्रकृति, सप्तविधा प्रकृतिविकृति एवं षोडशविधा विकृति, इन त्रितयात्मक चौबीस भावों के, संख्याओं के, तत्–परिगणन के माध्यम से स्वीभूत बन जाने वाला इनसे अतीत कः कश्चित् संख्यातीत किन्तु संख्यात सिद्ध विशुद्ध ज्ञानमात्र ही सांख्य की दृष्टि में पच्चीसवाँ 'पुरुष तत्त्व है, जो न प्रकृति है, न विकृति है। 'सख्यात सिद्ध' 'ज्ञानम्' ही 'सांख्य' शब्द का लोकानुबन्धी निर्वचन है, जिस इस केवल ज्ञाननिबन्धन–आधारात्मक विज्ञानपरोक्ष से सर्वथा असंस्पृष्ट सांख्य–ज्ञान के आधार पर ही कर्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा आविर्भूत हो पड़ी है दुर्भाग्य से इस देश में, जिसका गीताविज्ञानभाष्यादि में साटोप उप–बृंहण हुआ है।

अभी समझने मात्र के लिए यह कहा जा सकता है कि, सांख्य जिस 'पुरुष' मान रहा है उसे हम क्षराक्षरगर्भित परात्परानिभ 'अव्यय–ब्रह्म' कह सकते हैं, यही संचरप्रश्न का सर्वाधारभूत तुरीय 'आत्मपद' है। सांख्य जिस 'मूलप्रकृति' कहता है, जिसे एकविध मानता है, उसे वैदिक दृष्टि से हम 'अक्षरब्रह्म कह सकते हैं, जोकि गीता की परिभाषा में अव्ययपुरुष की 'पराप्रकृति' कहलाया है, जोकि न क्षरति' रूप से विकारों से सर्वथा असंस्पृष्ट बना रहता हुआ केवल 'प्रकृति' किंवा 'मूलप्रकृति' ही कहा जा सकता है। सांख्य जिसे 'प्रकृतिविकृति' कहता है, जिसके महदहङ्कारादि सात विवर्त मानता है, उसे वैदिक दृष्टि से

हम 'परात्पर' कह सकते हैं,—जो कि गीतापरिभाषा में अव्ययपुरुष की
'अपराप्रकृति' मानी गई है, जोकि अपने नित्यमहिमाभाव से सर्वेश
रहती हुई जहाँ प्रकृति है, वहाँ विकार सर्जन-अनुबन्ध से विकृति
बनी हुई है। इसी उभयधर्म से जिसे 'प्रकृतिविकृति' रूप उभयात्म
से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है। सांख्य, जिसे 'विकार' कहता
वही वैदिकदृष्टि से विकारवर्गात्मक 'विश्व' नाम से प्रसिद्ध है। इसप्रक
सांख्य के "पुरुष-मूलप्रकृति-प्रकृतिविकृति विकार" इन चार-संस्था
का वैदिक दृष्ट्या अभी, समझने मात्र के लिए क्रमशः 'अव्यय–अक्षर
क्षर–विश्व" इन नामों से समन्वित माना जासकता है, जि हैं कि
अथर्व दृष्टिप्रसङ्ग के आरम्भ में क्रमशः "आत्मा–ब्रह्म–यज्ञ–भूत
इन नामों से व्यवहृत किया गया है। एक ही आत्मतत्त्व के इन चार पर्वों
को लक्ष्य बना कर ही अब हमें नवीनक्रम से ज्ञान–विज्ञानभावों का समन्
देखना है।

उक्त चारों विषयों को समझने के लिए हमें अवश्य ही पेरा के वि
समझने की चेष्टा करने वाले 'मानव' के स्वरूप को ही, इसकी अध्यात्म
संस्था को ही लक्ष्य बना लेना चाहिए। मानवस्वरूप का बाह्य
संस्थान ही 'शरीर' कहलाया है जिस इस पाञ्चभौतिक प्रत्यक्षदृष्ट शरी
को–'स्थूलशरीर' माना गया है। इस स्थूलशरीर के अनन्तर मानव
दूसरा संस्थान विषयसंस्कारस्वरूप भावों से समन्वित इन्द्रियानुगत 'म
नाम से प्रसिद्ध है, जिसे व्यवहार में 'सूक्ष्मशरीर' मान लिया गया है
तदनन्तर मानव का तीसरा संस्थान है जिसे 'बुद्धि' कहा जाता है,
जो 'कारणशरीर' मान लिया गया है। सर्वान्तरतम वह 'सत्त्व' जो बुद्धि
भी सूक्ष्म है–'आत्मा' नाम से व्यवहृत हुआ है। और यही मानव

आत्मा, बुद्धि, मनः, शरीर-समन्वयात्मक यह सर्वस्वरूप है, जिसका गीता के शब्दों में ठीक क्रमानुपात से यों समर्थन हुआ है—

इन्द्रियाणि पराण्याहु, रिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धि, र्यो बुद्धे परतस्तु स ॥

—गीता

क्योंकि उत्थान-उपक्रम शरीर से होता है। अतएव उसे स्वतन्त्ररूप से पृथक् नहीं किया है। शरीर से पर, अर्थात् अन्तस्तर भी एक सूक्ष्म भी इन्द्रियवर्ग है जो सर्वेन्द्रियमन में ही अन्तर्भूत है। मन से पर बुद्धि, बुद्धि से पर जो कोई है वही है आत्मा। इसी से ही सम्पूर्ण विश्व में एकमात्र मानव में ही आत्मतत्त्व स्वस्वरूप से अभिव्यक्त हुआ है। मानवेतर समस्त प्राणी जीवमात्र हैं आत्मवान् नहीं। मानव जहाँ आत्मनिष्ठ है, वहाँ इतर प्राणी जीवभावमात्र पर विश्रान्त हैं जिस इस रहस्यपूर्ण तत्त्व को विस्मृत कर बैठने से ही आज मानव अपनी इस आत्मनिष्ठा से वञ्चित रहता हुआ सर्वथा प्राणसम।नधर्म्मा ही बनता और है। जबकि जीवभावात्मक अन्य प्राणी केवल प्राकृत बनते हुए 'जायस्व-म्रियस्व' पर ही उपशान्त हैं अतएव जिनका जन्मान्तर से कोई सम्बन्ध नहीं है, वहाँ एकमात्र मानव ही अपने आत्मभाव से संस्कारग्रहण-योग्यता रखता हुआ जन्मान्तर का अनुगामी बना रहता है जो कि यह रहस्य किसी अन्य प्राणी से ही संरक्षित रख रहा है श्रुति ने एक स्थान पर कहा है 'पुरुषो वै-प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'। तात्पर्य, जैसा स्वरूप विश्वम्भर विराट्प्रजापति का है, ठीक वैसा ही स्वरूप पुरुषात्मक मानव का है। विराट् प्रजापति का प्रथम विवर्त्त भूपिण्ड, तो मानव का प्रथम विवर्त्त पार्थिव शरीर है। प्रजापति का दूसरा वि

हम 'परदम' कह सकते हैं—जो कि गीतापरिभाषा में अव्ययपुरुष की 'अपराप्रकृति' मानी गई है, क्योंकि अपने नित्यमहिमाभाव से संबद्ध रहती हुई यहीं प्रकृति है, यहीं विकार सर्जन-अनुबन्ध से विकृति में बनी हुई है। इसी उभयधर्म से जिसे 'प्रकृतिविकृति' रूप उभयनाम से व्यवहृत करना अन्वय बनता है। सांख्य जिसे 'विकार' कहता है, वही वैदिकदृष्टि से विकारात्मक 'विश्व' नाम से प्रसिद्ध है। इसप्रकार सांख्य के "पुरुष-मूलप्रकृति-प्रकृतिविकृति-विकार"—इन चार संस्थानों को वैदिक दृष्ट्या अभी समन्वय मात्र के लिए क्रमशः 'अव्यय-अक्षर-क्षर—विश्व" इन नामों से समर्थित माना जासकता है, जि हें कि इस अवयय दृष्टिप्रसङ्ग के आरम्भ में क्रमशः "आत्मा-मन-यज्ञ-भूत" इन नामों से व्यवहृत किया गया है। एक ही आत्मतत्व के इन चार पर्वों का लक्ष्य बना कर ही अब हमें नवीनरूप से ज्ञान-विज्ञानभावों का समन्वय देखना है।

इन चारों विवर्तों को समझने के लिए हमें वेदों के लिए समझने की चाह करने वाले 'मानव' के स्वरूप को ही इसकी अध्यात्म-संस्था को ही लक्ष्य बना लेना चाहिए। मानवस्वरूप का बाह्य दृश्य संस्थान ही 'शरीर' कहलाया है जिस इस पाञ्चभौतिक प्रत्यक्षदृष्ट शरीर को-'स्थूलशरीर' माना गया है। इस स्थूलशरीर के अनन्तर मानव का दूसरा संस्थान विषयसंस्काररूप अर्थों से समन्वित इन्द्रियानुगत 'मन' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे व्यवहार में 'सूक्ष्मशरीर' मान लिया गया है। तदनन्तर मानव का तीसरा संस्थान है, जिसे 'बुद्धि' कहा जाता है, एवं जो 'कारणशरीर' मान लिया गया है। सर्वान्तरतम वह 'तत्त्व' जो बुद्धि से भी सूक्ष्म है-'आत्मा' नाम से व्यवहृत हुआ है। और यही मानव-का

आत्मा, बुद्धि, मन शरीर-समन्वयात्मक यह सर्वस्वरूप है, जिसका गीत के शब्दों में ठीक क्रमानुपात से यों समर्थन हुआ है—

इन्द्रियाणि पराण्याहु, रिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धि, र्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
—गीता

क्योंकि उत्थान-उपक्रम शरीर से होता है । अतएव उसे स्वतन्त्र रूप से उद्धृत नहीं किया है । शरीर से पर अर्थात् अनन्तर भी एवं सूक्ष्म भी इन्द्रियवर्ग है, जो सर्वेन्द्रियमन में ही अन्तर्भूत है । मन से पर बुद्धि, बुद्धि से पर जो कोई है, वही है आत्मा । कहते हैं सम्पूर्ण विश्व में एकमात्र मानव में ही 'आत्मतत्त्व स्वस्वरूप' से अभिव्यक्त हुआ है । मानवेतर समस्त प्राणी जीवमात्र हैं आत्मवान नहीं । मानव जहाँ आत्मनिष्ठ है वहाँ इतर प्राणी जीवमात्रमात्र पर विभात हैं जिस इस रहस्यपूर्ण तत्त्व को विस्मृत कर देने से ही आज मानव अपनी उस आत्मनिष्ठा से वञ्चित रहता हुआ सर्वथा प्राणीसमानधर्मा ही बनता जा रहा है । जबकि जीवमात्रात्मक अन्य प्राणी केवल प्राकृत बनते हुए 'आयत्त-नियत्त' पर ही उपशान्त हैं, अतएव जिनका जन्मान्तर से कोई सम्बन्ध नहीं है, वहाँ एकमात्र मानव ही अपने आत्मभाव से संस्कारग्रहण-योग्यता रखता हुआ जन्मान्तर का अनुगामी बना रहता है जो कि यह रहस्य किसी अन्य वक्तव्य से ही सम्बन्ध रख रहा है । श्रुति ने एक स्थान पर कहा है 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' । तात्पर्य, जैसा स्वरूप विश्वम्भर विराट्प्रजापति का है ठीक वैसा ही स्वरूप इस पुरुषाभिध मानव का है । विराट् प्रजापति का प्रथम विवर्त भूपिण्ड, तो मानव का प्रथम विवर्त पार्थिव शरीर है । प्रजापति का दूसरा वि

हम 'परात्पर' कह सकते हैं, जो कि गीतापरिभाषा में अव्ययपुरुष की 'अपराप्रकृति' मानी गई है जोकि अपने निःसम्बन्धभाव से सर्वत्र रहती हुई जहाँ प्रकृति है, वहाँ विकार भजन-अनुभव से विभक्त भी बनी हुई है। इसी उभयधर्म से जिसे 'प्रकृतिविकृति' रूप उभयभाव से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है। सांख्य जिसे 'विकार' कहता है, वही वैदिकदृष्टि से विकारात्मक 'विश्व' नाम से प्रसिद्ध है। इसप्रकार सांख्य के "पुरुष-मूलप्रकृति प्रकृतिविकृति विकार" इन चार संस्थानों को वैदिक दृष्ट्या अभी समझने मात्र के लिए क्रमशः "अव्यय-अक्षर-क्षर-विश्व" इन नामों से समन्वित माना जासकता है, जि हैं कि इस अध्यय दृष्टिप्रसङ्ग के आरम्भ में क्रमशः "आत्मा-प्रज्ञा-प्राण-भूत" इन नामों से व्यवहृत किया गया है। एक ही आत्मतत्त्व के इन चार पर्वों को लक्ष्य बना कर ही अब हमें नवीनरूप से ज्ञान-विज्ञानभावों का समन्वय देखना है।

इन चारों विवर्तों को समझने के लिए हमें अपनी ओर के लिए समझने की चेष्टा करने वाले 'मानव' के स्वरूप को ही, इसकी अध्यात्म-संस्था को ही लक्ष्य बना लेना चाहिए। मानवस्वरूप का बाह्य प्रथम संस्थान ही 'शरीर' कहलाता है जिस इस पाञ्चभौतिक मत्यशरीर शरीर को-'स्थूलशरीर' माना गया है। इस स्थूलशरीर के अनन्तर मानव का दूसरा संस्थान विषयसंस्काररूप भावों से समन्वित इन्द्रियानुगत 'मन' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे व्यवहार में 'सूक्ष्मशरीर' मान लिया गया है। तदनन्तर मानव का तीसरा संस्थान है, जिसे 'बुद्धि' कहा जाता है, एवं जो 'कारणशरीर' मान लिया गया है। सर्वान्तरतम यह 'तत्त्व' जो बुद्धि से भी सूक्ष्म है-'आत्मा' नाम से व्यवहृत हुआ है। और यही मानव का

सैषा समतुलनस्थिति । स्थितस्य गतिर्निरूपणीया ज्ञान-विज्ञान-भावसमन्वयप्रक्रिया-एवं रूपेण। इस अन्वय दृष्टिकोण से पूर्व हमनें ज्ञानविज्ञान प्रज्ञविज्ञान' रूप से दो विज्ञानधाराओं का ही स्वरूपदिग्दर्शन कराया था, जब कि इन दोनों धाराओं के आदि में आत्मतत्त्व एवं अन्त में मूलभाव, ये दो विवर्त प्रस्तुत दृष्टिकोण के द्वारा और उपस्थित हो जाते हैं। अतएव अब इन चारों की दृष्टि से ही हमें ज्ञान, तथा विज्ञान-शब्दों के समन्वय में प्रवृत्त होना पड़ेगा। प्रज्ञाविज्ञान को पर विज्ञान की दृष्टि से पूर्व में 'ज्ञान' कहा गया है एवं प्रज्ञविज्ञान को स्वरूपतया 'विज्ञान' कहा है। और इसी दृष्टिबिन्दु के माध्यम से ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्०' इत्यादि श्लोकार्थ का समन्वय किया है। अब चारों विवर्तभावों के माध्यम से हमें इसी अनुगम श्लोक का समन्वय देखना है।

सर्वान्तरतम सुसूक्ष्मतम अव्ययप्रधान आत्मा विशुद्ध ज्ञानात्मक है, यह पूर्व के प्रज्ञाविज्ञान-स्वरूपनिरूपण प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जा चुका है। अतः इस प्रथम आत्मपर्व को तो हम सम्पूर्ण विज्ञानसीमाओं-परीक्षणसीमाओं से सर्वथा पृथक् ही मानेंगे। उस विज्ञाता का विज्ञान ज्ञानात्मक विज्ञान सर्वथा असम्भव है। अतएव यह हमारी ज्ञान-विज्ञान-सीमाओं से सर्वथा परे की वस्तु है-'विज्ञातारमरे!वा केन विजानीयात्। यस्यामतं-तस्य मतं, मतं यस्य, न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां, विज्ञात-मविजानताम्-संविदन्ति न यं वेदा, विष्णुर्वेद न वा विधिः', यतो वाचो निवर्त्तन्ते-अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रौत उद्घोष उस के इस ज्ञान विज्ञानसीमा के पार्थक्य का ही उद्घोष कर रहे हैं। जब कि शब्द की जहाँ गति ही नहीं, तो शब्दात्मक उसका कैसे विज्ञप्त्य

चन्द्रमा है, तो मानव का द्वितीय विवर्त चान्द्र मन है। उसका तृतीय विवर्त सूर्य है तो इसका तृतीय विवर्त सौरी बुद्धि है। उसका चतुर्थ विवर्त सौरसंस्थात्मक लोकालोक में अतीत यदि आत्मा है, तो इसका भी चतुर्थ विवर्त शरीर-मनो बुद्धि से अतीत आत्मा ही है। जैसा स्वरूप उसका है ठीक वैसा ही स्वरूप इसका है। वह यदि पूर्ण है तो यह भी पूर्ण है। क्योंकि उस पूर्ण से ही तो इस पूर्ण का प्रवर्ग्यरूप से पार्थक्य हुआ है। इस पूर्ण का स्वरूप लक्ष्य बना लेने से अन्ततोगत्वा दोनों का ऐक्यात्मक पूर्णभाव ही तो शेष रह जाता है। 'यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह' लक्षण इसी अभेद को लक्ष्य बनाते हुए ऋषिप्रज्ञा ने कहा है—

पूर्णमदः, पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
—ईशोपनिषत्

मानव का आत्मा प्रजापतिसंस्था के प्रथम आत्मपर्व से, बुद्धि महत्पर्व से मन चन्द्रपर्व से एवं शरीर भूतपर्व से संगृहीत है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है।

आत्मा—आत्मा-अव्ययात्मा—	—आत्मा-आत्मा (पुरुषविवर्त्तम्)
सूर्य——महान्——अक्षरात्मा——	—बुद्धिः—कारणशरीरम् (प्रकृतिविवर्त्तम्)
चन्द्रमा—मनः—क्षरात्मा——	—मनः—सूक्ष्मशरीरम् (प्रकृतिविकृतिविवर्त्तम्
पृथिवी—भूतम्—विकार——	—शरीरम्-स्थूलशरीरम् (विकारविवर्त्तम्)
प्रजापतिर्मानवः	पुरुषो मानवः

क्या तात्पर्य्य है हमारा इन तीन विज्ञानधाराओं से ? । एवं क्या
ता है इन तीन धाराओं का भारतीय मानव की उपयोगिता की दृष्टि
। जब हम पारिभाषिक दृष्टिकोण के आधार पर इन तीन विज्ञान-
ओं के अर्थसमन्वय में प्रवृत्त होते हैं, तो इन तीनों के आधार पर
" ज्ञानधारा, उपासनाधारा, कर्म्मधारा, इन तीन अनुगमनीया
ओं की ओर आकर्षित हो जाना पड़ता है जिन इन तीनों धाराओं
मिमा में भारतीय आस्तिक मानव के ज्ञान-विज्ञान-कर्म्म-उपासना-
-धर्म्म-आचार-यज्ञ आदि आदि यच्चयावत् विभूतिमान अध्य
हो रहे हैं । अक्षविज्ञान ही भारतीय ज्ञानकाण्ड का आधार माना
है यज्ञविज्ञान ही भारतीय उपासनाकाण्ड का अवलम्बन माना
है। एवं भूतविज्ञान ही भारतीय कर्म्मकाण्ड का आश्रय माना गया
मानव की स्वरूपसंस्था में उसका शरीर-मन-बुद्धि-ये तीन ही तो
ऐसे हैं, जिनकी दृढ़ता-स्थिरता-विकास से मानव अभ्युदय का
कारी बना करता है । शरीरानुगता दृढ़ता, तन्मूलक अभ्युदय भूत-
नाधार पर प्रतिष्ठित रहने वाले कर्म्मकाण्ड पर अवलम्बित है।
ऽनुगता स्थिरता तन्मूलक अभ्युदय यज्ञविज्ञान के आधार पर
ष्ठित रहने वाले उपासनाकाण्ड पर अवलम्बित है । एवं बुद्ध्यनुगत
लक अभ्युदय अक्षविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित ज्ञानकाण्ड पर
लम्बित है । यों भारतीय मानव अपनी तथाकथित तीनों विज्ञान
ाओं के अनुग्रह से तदनुप्राणित ज्ञान-उपासना-कर्म्म का अनुगमन
ा हुआ सर्वविध सर्वाङ्गीण अभ्युदय से भी समन्वित हो जाया करता
एवं तद्द्वारा ही इसका स्वतः सिद्ध आत्मनिबन्धन निःश्रेयसभाव भी
ुरक्ष बना रहता है । और यही भारतीय मानव की ज्ञानविज्ञाननि

कर सकता है। केवल समझने-समझाने-मात्र के लिए उसे 'ज्ञान' से व्यपदृष्टमात्र कर दिया जा सकता है। इसी आधार पर आत्मदेव के लिए 'ज्ञान' अभिधा की शून्यता कर दी जाती है, जबकि उसके साथ किसी भी अभिधा का कोई भी सम्बन्ध नहीं 'अन्यदेव विदितात्, अथो अविदितादधि' का भी यही रहस्यात्मक कारण है।

अब शेष रह जाते हैं ब्रह्म-यज्ञ-भूत नामक तीनों पर्व। ये तीनों पर्व शास्त्र में विस्तार से निरूपित अतएव 'ज्ञातव्य' कहे जा सकते हैं विज्ञानात्मक-ज्ञातव्यात्मक-विज्ञानभाव के अनुबन्ध से इन तीनों के 'विज्ञान' शब्द का समन्वय मानते हुए तीनों को 'ब्रह्मविज्ञान-यज्ञविज्ञान-भूतविज्ञान' इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। एवं यहाँ प्रश्न यह कहा जा सकता है कि आत्मनिष्ठा के आधार पर पूर्व में विज्ञानधाराओं पर ही विश्राम हो रहा है, या धाराएँ क्रमशः 'प्रविज्ञान परविज्ञान' इन नामों से तथा 'प्रकृतिविज्ञान—विकारविज्ञान' नामों से भी व्यवहृत की जा सकती हैं। ज्ञानैकघन आत्मदेव जहाँ ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति का लक्ष्य है, वहाँ "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति से त्रिधारात्मिका ब्रह्म-यज्ञ-भूतविज्ञानत्रयी का समन्वय हो रहा है।

ॐ ज्ञानमनन्तं ब्रह्म

१—ब्रह्म (अपरविज्ञानम्—प्रकृतिविज्ञानं वा)—ब्रह्मविज्ञानधारा
२—यज्ञ (परविज्ञानम्—प्रकृतिविकृतिविज्ञानं वा) यज्ञविज्ञानधारा
३—भूतम् (विश्वविज्ञानम्—विकारविज्ञानं वा) भूतविज्ञानधारा

'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इत्युपनिषज्ज्ञानिका महर्षयः

के युग में एकान्ततः अवरुद्ध हो गई हो, इत्थंभूत दुर्भाग्यपूर्ण- भावुकता अन्ध-अभिनिविष्ट युग में भारतीय ज्ञान-उपासना-कर्मधाराओं के चिरन्तन इतिहास के सम्बन्ध में तथा तन्मूलिका ब्रह्म-यज्ञ-भूत-विज्ञान-धाराओं के सम्बन्ध में इनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में इन्हीं वर्त्तमान युगभावों से आलोमभ्यः-मानसातमभ्य आपादमस्तक-आक्रान्त यह जन क्या कहे, कैसे कहे, किन से कहे, जबकि आज की इस विभीषिका में-'किं करोमि, क गच्छामि, को वेदानुद्धरिष्यति' रूपा इसकी इस आर्त्त वाणी के प्रति स्वनामधन्य प्रातःस्मरणीय श्रीश्रीकुमारिलभट्टपाद जैसा एक भी तो प्राच्यसंस्कृतिनिष्ठ तद्रूप से ही आत्मोत्सर्ग कर देने वाला आश्वासनप्रदाता अद्यावधि भी तो इसे उपलब्ध नहीं हुआ। तस्मै तस्मै नमः। 'किं कस्मै कथनीयं, कस्य मनः प्रत्ययमा भवतु' ●।

अतएव उचित था कि, इस विज्ञानशब्द-समन्वय-प्रसङ्ग को यत्रैव उपरत कर दिया जाता। किन्तु । आश्वासन की एकमात्र आश्रय-भूमि-'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्म्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथिवी' इस कविसूक्ति की प्रेरणा से अपनी असमता से अभिभूत रहते हुए भी हमें प्रक्रान्त अवधेय समन्वय के सम्बन्ध में किञ्चित् निवेदन करना ही पड़ रहा है। ब्रह्मविज्ञानात्मक प्रकृतिवरकात्मक विज्ञान जैसा मौलिक तत्त्व है, जिसका आचारात्मक कर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव इस ब्रह्मविज्ञानात्मक मौलिक विज्ञान का ज्ञान में ही अन्तर्भाव हो जाता है, जिस कि वर्णनिपरा में-'अथ परा, यया

●-गोधूलिधूमराह्नो मृत्यति वेदान्तसिद्धान्त ।

करने पर कि, भगवन् ! किसे ज्ञान ज्ञान से यह सृष्टिप्रपञ्च सर्वात्मना ज्ञान लिया जाता है ?, इस युग के परम वैज्ञानिक अङ्गिरा महर्षि के पुत्र, अतएव 'आङ्गिरस' इस उपनाम से प्रसिद्ध महर्षि भारद्वाज ने यही समाधान किया था कि—

'द्वे विद्ये वेदितव्ये-इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति-परा चैव, अपरा च । तत्र अपरा ऋग्वेदो, यजुर्वेद , सामवेदो, ऽथर्व-वेद । शिक्षा-कल्पो-व्याकरणं निरुक्त -छन्दो-ज्योतिषम्' इति ।

—मुण्डकोपनिषत् १।४-५ ।

स्वयम्भू-व्योम-परमेष्ठी-वायु-सूर्य्य-तेज-चन्द्रमा-जल-मह-नक्षत्र-पृथिवी-ओषधि-वनस्पति-धातु-अन्न संज्ञ-सर्वहृत जीवसर्ग,-ऋषि-पितर असुर-देव-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच-आदि देवयोनिसर्ग पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज-आदि पार्थिव सर्ग, आदि आदि ब्रह्मयातम्-मार्गविष-आशीविष-भूतविष-विषसर्ग का स्वरूपनिर्म्माण-स्थिति-अवसान-जिन प्रकृतिसिद्ध नियमों के द्वारा धाराप्राहिकरूप से सम्बन्धित है उन सम्बन्धवन्धी विधानों की रहस्यपूर्णा विद्या ही परब्रह्मविद्या है यही यज्ञ विज्ञान है जो विज्ञानद्वारा ज्ञानमात्र है मानव के लिये जिसका कि प्रधानरूप से मूलसंहिताओं में विश्लेषण हुआ है । यही यज्ञविज्ञानात्मक प्रकृतिविज्ञान भारतीय 'विज्ञान' शब्द का प्रथम तथा मुख्य दृष्टिकोण है । प्रधानरूप से हमने इसी दृष्टि से प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रन्थों में सर्वत्र 'विज्ञान' शब्द का व्यवहार किया है । ज्ञानमय विज्ञानात्मक यही ब्रह्म विज्ञान प्रकृतिसिद्ध वह यज्ञविज्ञान है जिसका पूर्वपात 'सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति' इत्यादि गीतावचन से स्वरूपविश्लेषण हुआ

तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि रूप से–'पराविद्या' कहा है। 'आत्म' लक्षण शुद्ध-निरपेक्ष ज्ञानैकघन अव्ययब्रह्म से अभिन्न, अतएव पर तत्त्व 'अव्यय' नाम से भी व्यवहृत 'परब्रह्म' नामक भूतयोनि का आधारभूत अतएव एतन्नाम से भी उपस्तुत ब्रह्मविज्ञानात्मक सापेक्षज्ञानमूर्त्ति पराविद्यामय इस अक्षरब्रह्म की इसी सूक्ष्मतमा स्थिति का परीक्षात्मक विज्ञान से पृथक्करण करने के लिये श्रुति ने कहा है—

यत्तदद्रेश्यं-(ब्रह्मविज्ञानात्मकं)-अद्रेश्यम्, अग्राह्यम्, अगोत्रम्, अवर्णम्, अचक्षुःश्रोत्रम्, तदपाणिपादं, नित्यम्, विभुम्, सर्वगतम्, सुसूक्ष्मम्, तदव्ययम्, तद्भूतयोनिं, परिपश्यन्ति धीराः'। (मुण्डकोपनिषद् १।६)।

'धीरा परिपश्यन्ति' यह उपसंहार वाक्य स्पष्ट ही ब्रह्मविज्ञानात्मक अक्षरविज्ञान की दर्शनमात्रनिबन्धना ज्ञानपक्षता का ही समर्थक बन रहा है। अतएव इसे हम 'विज्ञान' न कह कर 'ज्ञान' ही कहेंगे। एवं इसी दृष्टि से इसे अव्ययब्रह्मात्मक शुद्ध निरपेक्ष आत्मज्ञान की कोटि में ही अन्तर्भुक्त मान लेंगे। अब क्रमप्राप्त प्रकृतिविकृतिरूप क्षरब्रह्मात्मक वह यज्ञविज्ञान हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, जिसके आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक-स्वरूप का पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। यही उपनिषदों की 'अपराविद्या' कहलाई है यही वैदिक विज्ञान का प्रधान मूलस्तम्भ है। वेदशास्त्र में, विशेषतः वेदशास्त्र के ऋक्-यजु-साम-अथर्व-लक्षण संहिता भाग में अपराविद्यात्मक इसी यज्ञविज्ञान का–जिसे कि सृष्टिविज्ञान भी कहा जाकर–स्वरूपविश्लेषण हुआ है। वेदाङ्ग भी इसी में अन्तर्भूत हैं। महाशाल महर्षि शौनक के निमित्त का प्रश्न

"प्रकृतिविकृति कसन्या–
दयानुविधा वै मनुष्या –
यद् वा यत्रेऽङ्ग स्तत् करवाणि"

इत्यादि श्रायवचनों से प्रसिद्ध है। यही यहाँ की मूलविज्ञानविरा संक्षिप्त स्वरूपनिरूपण है। इसप्रकार मूलविज्ञानात्मक वैषम्यरूप विज्ञान विकारविज्ञान कहलाया, तदाधारभूत प्रकृतिविकृति नात्मक निस्पयविज्ञान देवविज्ञान कहलाया तदाधारभूत अपर नात्मक विज्ञान प्रकृतिविज्ञान कहलाया जो कि परीक्षदृष्टि से रहता हुआ 'ज्ञान' ही कहलाया। सर्वाधारभूत अव्ययमय ही व 'ज्ञान' मात्र ही कहलाया। इस दृष्टि से पूर्वोक्त चार विवर्तों में आरम्भ के दो विवर्त तो ज्ञानप्रधान प्रमाणित हुए। एवं उत्तर के केवल विज्ञानप्रधान प्रमाणित हुए। अव्ययस्वरूप आत्मज्ञान एवं रक्षरूप ब्रह्मविज्ञान दोनों का भगवान् ने 'ज्ञान' नाम से संग्रह या। एवं क्षरमयरूप यज्ञविज्ञान (निस्पयविज्ञानात्मक देवविज्ञानरूप ख्यमात्र-सृष्टिविज्ञान) एवं विकारस्वरूप भूतविज्ञान (मानुप त्मक भूतविज्ञानरूप व्याकरणात्मक कर्मविज्ञान), दोनों का ज्ञान' शब्द से संग्रह किया। और इसप्रकार ज्ञान विज्ञान-शब्दों का न चारों पर्वों का संग्रह करते हुए भगवान् ने सभी कुछ स्पष्ट कर या, जिस इत्थंभूत ज्ञानविज्ञानात्मक स्पष्टीकरण का 'यज्ज्ञात्वा नेह योऽन्यत् ज्ञातव्यमवशिष्यते' वाक्य से समर्थन हो रहा है।

नम्— { १–आत्मज्ञानम् (१)-निरपवादज्ञानानुगतम्-मानवात्मप्रतिष्ठाभूमि
२–ब्रह्मविज्ञानम् (२)-ज्ञानकारणानुगतम्–मानवबुद्धिविकासभूमि

ज्ञानम्- { ३–यज्ञविज्ञानम्(३)-उपासनाकारणानुगतम्-मानवमनःप्रतिष्ठाभूमि
४–भूतविज्ञानम्(४)-कर्मकारणानुगतम्—मानवशरीरप्रतिष्ठाभूमि

है । यह प्रकृतिसिद्ध यज्ञविज्ञान मानव के लिये केवल ज्ञातव्य ही बन सकता है, आचरणीय नहीं । अतएव आचारात्मक-भूतपरीक्षात्मक विज्ञान से इस मात्रपरीक्षात्मक नित्य यज्ञविज्ञान को विभक्त ही समझा जायगा ।

प्रकृतिसिद्ध-परमात्मक-'यज्ञविज्ञान' का यहाँ की ऋषिप्रज्ञा ने साक्षात्कार किया । एवं तदाधार पर तत्तत्प्राकृतिक-पार्थिव-प्राणों के सम्मिश्रण से उत्पन्न तत्तद्भूतभौतिक पदार्थों के माध्यम से एक नवीन 'यज्ञकर्म्म' का आविष्कार किया । मानवीया स्थिरप्रज्ञा से प्राकृतिक नित्य वैधयज्ञ के नियमों के आधार पर आविष्कृत यही 'भूतयज्ञ भारतीय मानव का आचारात्मक कर्म्मकाण्ड कहलाया । यही विकल्पपरनिष्पन्न वैचारिक जगत् से तदनुगत वैकारिक पार्थिव भूतों से सम्पन्न होने वाला वैधयज्ञ' कहलाया जिसके द्वारा भारतीय मानव ने वैसा सामर्थ्य प्राप्त कर लिया जैसाकि सामर्थ्य प्राकृतिक नित्य यज्ञ में है । ऋषिमानव के द्वारा भूतपरीक्षा के द्वारा आविष्कृत किंवा मानव के द्वारा अनुष्ठित यही वैधयज्ञ इसकी सम्पूर्ण लौकिक वैदिक आवश्यकताओं का पूरक बनता हुआ इसके लिये 'इष्टकामधुक्' बना । एवं यही वैधयज्ञ कर्म्मकाण्डात्मक 'भूतविज्ञान' कहलाया, जिसे भारतवर्ष की धर्मविद्या कहा जा सकता है, कहा गया है । एवं जिस इत्थंभूत वैध-मानुष-भूतयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता तथा विज्ञान वेद के ब्राह्मणभागात्मक विधिभाग' में विशेष रूप से तथा आरण्यक-उपनिषद् भाग में सामान्य रूप से विश्लेषण हुआ है । जैसा कुछ प्रकृति में नित्य यज्ञ के द्वारा हो रहा है, माध्यन्दिनक प्राकृतिक देवताओं के द्वारा जैसा जो कुछ प्राकृतिक में हो रहा है, ठीक उसी के अनुरूप विधिविधान इस भूताविष्कारात्मक मानुषयज्ञ में व्यवस्थित हुए, जैसाकि—

युक्त—स धर्म्म इति निश्चय' ही ज्ञानविज्ञानात्मक सनातन की स्वरूपपरिभाषा है। जब जब भी मानव आत्मबुद्धिधर्म्मों से मुख बन कर मनःशरीरानुगत केवल काम-भोगों में ही आसक्त होजाता है, तब तब ही प्रकृतिविकम्पन हो पड़ता है, जिसके वृष्टि-अनावृष्टि-स्वल्पवृष्टि-हीनवृष्टि करकापात-वज्रपात-ऐन्द्र-वारुण -आग्नेय भेद से चतुर्विध भूकम्प धूमकेतूदय-जनपदविध्वंसिनी- मारी-राष्ट्रकलह-अनैतिकता-उच्छृङ्खलता-आदि आदि परिणाम चिन्ह गए हैं। ऐसे भीषण समय ही धर्म्मग्लानियुग कहलाए हैं, जिसमें नैतिक मानव प्रकृतिविकम्पन के साथ साथ आत्यन्तिक रूप से पीड़ित हो पड़ते हैं। मानवीय प्रज्ञा के अपराध से उत्पन्न अधर्म्म- नाएँ ही प्राकृतिक क्षोभ का कारण बनती हैं, चरम सीमा पर पहुँचा या यही प्रकृतिक्षोभ कालपरिपाकावस्था में आकर अपने से अभिन्न त्यात्मक ब्रह्मविकम्पन का कारण बन जाता है। यही विकम्पित ब्रह्मांश म्मग्लानि के उपशम के लिए विशिष्ट मानवविभूति के रूप में धरातल र अवतीर्ण हुआ करता है, जोकि आस्तिक प्रज्ञा में भगवदंशावतार नाम उपस्तुत है। जिस इत्थंभूता अवतारविभूति का यह ही रहस्यात्मक ज्ञान से सम्बन्ध है।

केवल मानवीय तात्कालिक कल्पना से अनुप्राणित अन्यान्य मतवाद हाँ ज्ञानानुगत विज्ञान तर्क, हेतु परीक्षणमार्गों से विद्वेष कर रहे हैं, हाँ भारतीय धर्म्म इन सबका इसलिए सहर्ष अभिनन्दन कर रहा है कि, इसकी मूलभित्ति ज्ञान विज्ञान जैसे तत्त्वत्रय अधिष्ठान पर प्रतिष्ठित है। धर्म्माचार्य्यों ने परीक्षणबुद्धि का स्वागत करते हुए भारतीय धर्म्म के सम्बन्ध में यही उद्दात्त घोषणा की है कि—

आत्मविज्ञान, तथा प्रज्ञाविज्ञान, इन दोनों की समष्टि को 'महाविज्ञान' शब्द से भी व्यवहृत कर सकते हैं। क्योंकि केवल इ मर्य्यादा के अनुबन्ध से दोनों ही समानधर्म्मा बने हुए हैं। एवं महाविज्ञान, तथा मृतविज्ञान दोनों की समष्टि को 'महाविज्ञान' शब्द व्यवहृत किया जा सकता है। क्योंकि परीक्षणमर्य्यादा से दोनों समानधर्म्मा प्रमाणित हो रहे हैं। और यों अन्ततोगत्वा चारों का इस समानधर्म्मानुबन्ध से चारों विवर्तों का पूर्वोक्त प्रज्ञाविज्ञान तथा महाविज्ञानधारा इन दो धाराओं पर ही पर्य्यवसान हो है। दोनों क्रमशः आत्मनिबन्धन अलौकिक निःश्रेयसभाव-संरक्ष तथा विश्वनिबन्धन लौकिक अभ्युदयभाव समाहक बने रहते हुए मान आध्यात्मिक आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–चारों पर्वों के संरक्षण धारक हुए 'धर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं, जिससे मानव कभी अपने को निरपेक्ष मानने मनवाने की भ्रान्ति नहीं कर सकता। ज्ञान वि सिद्ध, आस्तिक लौकिक–शान्ति–समृद्धि–प्रवर्त्तक संरक्षक सर्वभूत धर्म्म ही 'सनातनधर्म्म' कहलाता है, जो दुर्भाग्यवश गतानुगतिक वादों के आवरण से स्वस्वरूप से अभिभूत बनता हुआ आज दृष्टि में निरपेक्ष ही प्रमाणित हो रहा है जिससे बड़ा दुर्भाग्य और कुछ भी नहीं माना जा सकता। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्म्मः' इस कणादसम्मत धर्म्मलक्षण का न किसी मतवाद से न है, न सम्प्रदायवाद से। यह तो सत्यस्यमस्यम विश्वेश्वर की सत्य नर्यात है जिससे विश्व तथा विश्वमानव का स्वरूप प्रतिष्ठि जैसा कि–'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' इत्यादि विश्वजन सू प्रसिद्ध है। 'धारणाद्धर्म्ममित्याहुधर्म्मः। धारयते प्रजा । यत

के कल्पित नामपत्रों पर ही परिसमाप्त है। यद्यपि विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित भूतविज्ञान का तो आज नामस्मरण भी नहीं हो रहा। इसप्रकार न आज यहाँ अलौकिक ज्ञान है, न लौकिक विज्ञान है। है, तो केवल यही है कि अपनी अपनी साम्प्रदायिक-मतवादात्मिका मान्यताओं के सर्वमूर्द्धन्य प्रमाणित करने की अहम्‌ भूमिका, तत्समर्थन-प्रचार-साफल्य के लिए कल्पित अलौकिक चमत्कारों के प्रदर्शन-छद्म से भावुक जनता की प्रतारणा। प्रकृतिविरुद्ध आचरण ही आज इस राष्ट्र में महान चमत्कार बन रहा है। यदि कोई गाली प्रदान करता है अनर्गल प्रलाप करता है, आडम्बरपूर्ण जीवनपद्धति का प्रदर्शन करता है, तो वही यहाँ की भावुक प्रजा के लिए महान्‌ सिद्ध पुरुष बन बैठता है। कोई ज्योति के दर्शन करा रहा है कोई नाच-गा कर-अश्रु विमुञ्चन कर भगवान्‌ के सान्निध्य का अभिनय कर रहा है, कोई विडम्बनापूर्ण घोर साधनाओं के नाटकीय अभिनय से गुप्त सिद्धियों का प्रदर्शन कर रहा है, गाड़ आंधा लटक रहा है तो कहीं प्राणनिरोध जैसी सामान्य प्रक्रिया के व्याज से भूगर्भ में बैठ कर 'समाधि' के माध्यम से महीन व्यवसाय प्रसन्न किया जा रहा है। और यों आज इस ज्ञान विज्ञानात्मक पावन भारतवर्ष के क्रोड में अलौकिकता के नाम पर प्रकृतिविरुद्ध सम्पूर्ण तत्त्ववाद का वर्ग के दायाद्भोक्ता उत्तराधिकारियों के द्वारा मामा उपहास हो किया जा रहा है। इसप्रकार शोचनीय अवस्था, किंवा निःसीमा दुरवस्था के अनुग्रह से आज यदि धर्म के प्रति तत्पुरस्कर परम्परागत ज्ञान विज्ञानात्मक प्रजापतिशास्त्र के प्रति एवं तदनुगामी वेदानुगों के प्रति वाद्‌प्रतिकत्व से प्रवर्तमानार्थक परीक्षणात्मक प्रत्यक्ष भौतिक विज्ञान की ओर 'आज' इसका आदेशरूप से ही आकर्षि

यत्तर्केणानुसंधत्ते, स धर्म्मं वेद, नेतरः ।

—मनुः

प्रश्न धर्म्मचर्चा का नहीं है। प्रश्न है 'विज्ञान' शब्द का, जि
प्रसङ्ग से पावन धर्म्मचर्चा का भी साङ्केतिक निदर्शन हो गया।
प्रतिपादक भारतीय 'विज्ञान' शब्द की सभी प्रमुख धाराओं के
दर्शन की चेष्टा की गई। जिनके माध्यम से ही आज हमें
दुरवस्था का आश्रय लेना पड़ रहा है, जिसके अवलोकन-अध्ययन
भी सम्भवतः भारतवर्ष की आस्तिक प्रजा इस पर रुष्ट-आविष्ट हो
है। हमें आज यह नि:सङ्कोचरूप से अवनतशिरस्क बन कर स्वीकार
ही लेना चाहिए कि वर्त्तमान भारतीय प्रजा जिसे 'सनातनधर्म्म
रही है, जिस धर्म्म के व्याज से आज वह अनेक प्रकार के
अपराध-तारतम्यों का सर्जन करती हुई नहीं अघा रही, उसकी
से सम्बन्ध रखने वाला वर्त्तमान सनातनधर्म्म 'धर्म्म' के
स्वरूप से कुछ भी तो सम्पर्क नहीं रख रहा। यह तो अन्यान्य मतवा
भाँति एक मतवादमात्र है, मजहब है, रिलीजन है जिन
'धर्म्म' का यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। सम्भवतः क्यों नि
इस लिए धर्म्मप्राणभूत इस भारतराष्ट्र के प्राङ्गण में आज 'धर्म्म
पेक्षिता' जैसी अमानवीयता अभिधा आविष्कृत हो चुकी है, कि
समस्त उत्तरदायित्व यहाँ की उस धार्म्मिक प्रजा पर ही निर्भर
धर्म्मोन्माद से उत्पन्न कलह-संघर्ष-मर्यादितमूलक मतवाद
यशोगान कर रही है। धर्म्माधारभूत ज्ञान पक्ष एवं तदनु
ब्रह्मविज्ञान आज केवल विद्वानों के वाग्विलासमात्र पर विश्राम्य
ब्रह्मविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित यज्ञविज्ञान आज कर्म्मासक्त

के कल्पित नामपक्ष पर ही परिसमाप्त है। आज वेदज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित मूलविज्ञान का तो आज नामस्मरण भी नहीं हो रहा। इसप्रकार न आज यहाँ अलौकिक ज्ञान है न लौकिक विज्ञान है। है तो केवल यही है कि अपनी अपनी साम्प्रदायिक-मतवादात्मिका मान्यताओं के सवमूलरूप प्रमाणित करने की आग्रहभिक्षा, तत्समर्थन-प्रचार-साफल्य के लिए कल्पित अलौकिक चमत्कारों के प्रदर्शन-छल से भावुक जनता की प्रतारणा। प्रकृतिविरुद्ध आचरण ही आज इस राष्ट्र में महान् चमत्कार बन रहा है। यदि कोई गाली प्रदान करता है अनर्गल प्रलाप करता है आडम्बरपूर्ण जीवनपद्धति का प्रदर्शन करता है तो वही यहाँ की भावुक प्रजा के लिए महान् सिद्ध पुरुष बन बैठता है। कोई समाधि के दर्शन करा रहा है, कोई नाच-गा कर-अश्रु विमुञ्चन कर भगवान् के सान्निध्य का अभिनय कर रहा है, कोई विडम्बनापूर्ण घोर साधनाओं के नाटकीय अभिनय से गुप्त सिद्धियों का प्रदर्शन कर रहा है, कोई भाषा रटक रहा है तो कहीं प्राणनिरोध जैसी सामान्य प्रक्रिया के व्याज से अन्तस्तल में बैठ कर 'समाधि' के माध्यम से नवीन अकरण उत्पन्न किया जा रहा है। और यों आज इस ज्ञान विज्ञानात्मक पावन भारतवर्ष के क्रोड में अलौकिकता के नाम पर प्रकृतिसिद्ध सम्पूर्ण तत्त्ववाद का इसी के दायाद्यमोक्ता उत्तराधिकारियों के द्वारा महान् उपहास ही किया जा रहा है। इत्यंभूता शोचनीया अवस्था किंवा निःसीमा दुरवस्था के अनुग्रह से आज यदि धर्म के प्रति, तदनुसार अध्यात्मात्मा ज्ञान विज्ञानात्मक यथार्थविज्ञान के प्रति एवं तदनु-गामी वेदानिष्ठों के प्रति वातावरणरूप से प्रत्यक्षफलसर्जक परीक्षणात्मक प्रतीच्य भौतिक विज्ञान की ओर 'काम' इत्यादि सहजरूप से ही आकर्षित

हो पड़ने वाली भारतीय प्रजा एवं प्रजातन्त्रसञ्चालक शासकवर्ग भारतीय प्राच्यशास्त्र-धर्म-आचार-आदि के प्रति अनुदिन निरपेक्ष-तटस्थ-सी बनती आ रही है, तो न इसमें शासित प्रजा का ही कोई दोष, एवं न शासक सत्तावर्ग का ही कोई अपराध। अपराध है प्राच्यसंस्कृतिनिष्ठ उन भारतीय विद्वानों का जो व्याकरण-साहित्य-न्याय-दर्शनादि के पर्य्यालोचन में ही अपने जीवन की आहुति देते हुए ज्ञानविज्ञानकोषात्मक उस वेदशास्त्र के पारिभाषिक अध्ययनाध्यापन से एकान्ततः ही पराङ्मुख हो गए हैं विगत कई एक शताब्दियों से जिस वेदशास्त्र की पराङ्मुखता राजर्षि मनु के शब्दों में विद्वान् की जीवितमृत्यु का ही कारण बन जाया करती है।

प्रज्ञविज्ञान की परिभाषाओं के सम्बन्ध में एवं प्रकृतिविज्ञानात्मक ब्रह्मविज्ञान की परिभाषाओं के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन करने की धृष्टता की गई। अब शेष रह जाता है परीक्षणात्मक-विकृतिरूप वह भूतविज्ञान, जिसके परीक्षणात्मक पारिभाषिक यज्ञिय सूत्र सर्वथा ही यहाँ की प्रज्ञा से पराङ्मुख बन गए हैं जैसाकि वक्तव्य के आरम्भ में ही अपनी इस असमर्थता का स्पष्टीकरण किया जा चुका है। यह सब कुछ मान लेने पर भी वेदशास्त्र के अक्षरदर्शनमात्र से भी ऐसा कुछ भान हो रहा है कि अवश्य ही इस प्रजापतिशास्त्र में आत्मज्ञान प्रज्ञविज्ञान, एवं ब्रह्मविज्ञान के साथ साथ उस भूतविज्ञान का भी क्रमबद्ध पारिभाषिक स्वरूप विस्पष्ट हुआ है, जिस भूतविज्ञान का वेदुलीविद्या पदार्थविद्या से ही सम्बन्ध है।

भारतीय पदार्थविद्या के सम्बन्ध में भूतविज्ञान के सम्बन्ध में इस विशेष दृष्टिकोण को लक्ष्य बना लेना आवश्यक होगा कि, जहाँ वर्त्तमान

प्रतीच्य मूतविज्ञान रासायनिक सम्मिश्रणात्मक यौगिक विज्ञान के मूलाधार तत्त्वों की संख्या में क्रमशः वृद्धि करता हुआ अनेक तत्त्वानुगामी बन रहा है, वहाँ भारतीय मूतविज्ञान के मूलाधार तत्त्व पाँच ही वर्गों में विभक्त हैं, जो कि क्रमशः आकाश-वायु-तेज-अप्-पृथिवी इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यही वह भारतीय सुप्रसिद्ध पञ्चतत्त्ववाद है, जिसे आगे कर प्रतीच्य विज्ञानवादी भारतीय प्रज्ञा के उपहास में प्रवृत्त होते देखे गए हैं। "पृथिवी-जलादि नाम से प्रसिद्ध महाभूतों की यौगिकता जब स्पष्ट प्रमाणित है, तो इस दशा में इन्हें मौलिक तत्त्व कैसे बतलाया गया ?। इन मतों को पञ्चतत्त्व बतलाना ही इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि, भारतीय प्रज्ञा आत्म-परमात्म-चर्चा में अलौकिक भावों का आलोडन-विलोडन-मात्र में भले ही सफल रही हो। किन्तु भूतविज्ञान के स्वरूपज्ञान से तो यह सर्वथा ही वञ्चित है" इस रूप के आक्षेप से सम्बन्ध रखने वाला प्रचण्ड तर्क भारतीय प्रज्ञा को सहसा एकबार तो कुण्ठित ही कर देता है कि, क्या सचमुच यहाँ की ऋषिप्रज्ञा भूतविज्ञान के स्वरूप से अपरिचित थी ?। उक्त आक्रमण के साथ साथ ही दूसरा आक्रमण भारतीयों की प्रज्ञा पर यह होता है कि "जैसे ये भूतविज्ञान से अपरिचित हैं, एवमेव शारीरविज्ञान से भी इनका कोई सम्पर्क नहीं रहा। तभी तो शारीरसंस्था में सर्वथा अनुपयुक्त अयथार्थ काल्पनिक वात-पित्त कफ-जैसे धातुओं के आधार पर इन का आयुर्वेद शास्त्र भी सर्वथा अवैज्ञानिक ही है"। कहना न होगा कि अधिकांश भारतीय वैज्ञानिकबन्धु एवं डाक्टर महाभाग भी इस आक्षेप के साथ यहाँ की आयुर्वेदचिकित्साप्रणाली का इसी दृष्टिकोण के माध्यम से उपेक्षित प्रमाणित करते रहने का पुण्यप्रयास ? करते रहते हैं। प्रस्तुत प्रश्न का विषय नहीं है। इसका विवेचन हमने "किन्हीं" में त्रिधातुवाद

मासक स्वतन्त्र वक्तव्य में किया है। प्रकृत में तो मूलविज्ञानानुबन्धी 'पञ्चतत्त्व' के ही सम्बन्ध में हमें दो शब्द निवेदन कर देने हैं।

पूर्व की विज्ञानधाराओं का दिग्दर्शन कराते हुए हमनें परात्पर से अभिन्न अव्ययब्रह्म को 'आत्मज्ञान' नाम से व्यवहृत किया है। यहीं से उस पञ्चतत्त्ववाद का उपक्रम हो जाता है, जो पञ्च महाभूतों से भिन्न होता है जबकि इस प्रथम पञ्चक का पारिभाषिक पञ्चतत्त्ववाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्, इन पाँच पारिभाषिक कलाओं से सानैकघन निष्कल भी अव्ययात्मा सकल किंवा पञ्चकल बना हुआ है। आत्मा के अनन्तर अक्षरलक्षण ब्रह्मविज्ञान का स्थान है। इस की ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम नाम की पाँच कलाएँ हैं जिनके आधार पर श्रुति ने कहा है—

यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभि यत् संवहन्ति।
सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते, तत्र देवाः सर्व एकी भवन्ति॥

अक्षरब्रह्मात्मक ब्रह्मविज्ञान के अनन्तर महाविकृतिरूप क्षरब्रह्मात्मक यज्ञविज्ञान हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, जिसे हमनें 'सृष्टिविज्ञान' कहा है। यज्ञविज्ञानात्मक इस क्षरब्रह्म की भी पाँच ही कलाएँ हैं—जो क्रमशः 'प्राणः-आप-वाक्-अन्नम्-अन्नाद' नामों से प्रसिद्ध हैं। यहीं आकर आत्मब्रह्म का सृष्टिवितान सम्पन्न हो जाता है। अतएव परात्पर, पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर एवं पञ्चकल क्षर, इन १६ कलाओं की समष्टि को 'षोडशीप्रजापति' मान लिया जाता है जो कि प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में प्रतिष्ठित माना गया है। इसी हृदयस्थ षोडशी-षोडशकल-प्रजापति की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ षोडशकल मान लिया गया है, जैसाकि 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' इस अनुगम

समाश्रित है । विज्ञानसंस्कारों की प्रतिच्छाया से भगवान्‌भी भिन्न रह जाने का महद्‌भाग्य प्राप्त करने वाली भारतीय आस्तिक । सम्भवतः इसी आधार पर अपने आराध्य-उपास्य भगवान्‌ को सद षडशावपरिपूर्ण भगवान्‌' मानती चली आ रही है । अस्तु इसी षोडशकलाभाव को परात्परस्वरूपा निष्कलभावात्मिका एक कला तथा अव्ययाक्षरात्मक्षरमिश्रभूता पञ्चदश कलाओं के वर्गीकरण क्रम से श्रुति को यों कहना पड़ा है कि—

गता कला पञ्चदश प्रतिष्ठां देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा पर उव्यये सर्व एकी भवन्ति ॥

पारमेष्ठीप्रजापति की करमव्यानुगता विशुद्धा प्राण-आप-वाक्‌-अन्न-अन्नाद-रूपा यज्ञविज्ञानात्मिका पाँच कलाएँ ही पञ्चकल अव्यय-स्वरूप अक्षर का आप ही मूलप्रतिष्ठा बनाती हुई सृष्टि का मौलिक विष्ठा बनती हैं । अतएव भारतीय विज्ञानपरिभाषा में करमव्यात्मिका सूक्ष्मा विशुद्धा अर्थात्‌ अपञ्चीकृता य पाँचों कलाएँ ही 'पञ्चतत्त्व' नाम से प्रसिद्ध हुई हैं, जिनका सांकेतिक पारिभाषिक वैज्ञानिक नाम है विश्वसृट्‌' । विश्वरूप भूतवर्ग क सर्जन की मूलप्रवर्तिका य ही कर लाएँ हैं अतएव इन्हें 'विश्वसृड्‌' कहना अन्वर्थ बनता है । जैसाकि-विश्वसृज इदं विश्वमसृजन्त । यद्विश्वमसृजन्त, तस्माद्विश्वसृज ' हि ब्रा १।१२।६।८) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है । दर्शनभाषा में यही 'गुणसूत्र' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे सांख्य न 'पञ्चतन्मात्रा' नाम स व्यवहृत किया है । क्योंकि इन मौलिक तत्त्वों का विश्लेषण सम्भव नहीं है और यही इनकी मौलिकता है ।

आगे चल कर इन पाँचों गुणभूतात्मक मौलिक तत्त्वों का पञ्चीकरण होता है, जिसका तात्पर्य है प्रत्येक में शेष चारों की आहुति । एक अर्द्ध भाग में स्वयं एक तत्त्व, शेप अर्द्ध भाग में शेप चारों । इसीलिए 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद:' इस वैज्ञानिक सिद्धान्तानुसार पञ्चीकृत प्रत्येक इन यौगिक भूतों के नाम वे ही रहते हैं, जो मात्रादि के मौलिक रूप के माने गए हैं । इस द्वितीय प्रक्रम में जो कि मूलरूप दृष्टि से प्रथम ही प्रक्रम माना जायगा—पाँच पञ्चजनों की पञ्चविंशति (२५) कलाएँ हो जाती हैं । दर्शनभाषा में इन्हीं 'अणुभूत' माना गया है जिनका यौगिकभाव के कारण विराज सम्भव है। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठित' इत्यादि श्रुति अणुभूतात्मक इसी प्रक्रम का स्पष्टीकरण कर रही है।

पुनः पाँचों पञ्चजनों का पञ्चीकरण होता है । इस पञ्चीकरण से ये पाँचों पुरञ्जन जिस यौगिक अवस्था में परिणत हो जाते हैं वही 'पुरञ्जन' नाम से व्यवहृत हुई है । इस पुरञ्जनावस्था में पञ्चजनों के स्वरूप में अपूर्वता आजाती है । अतएव इस प्रक्रम में इन पाँचों पुरञ्जनों के नाम परिवर्त्तित हो जाते हैं । पुरञ्जनात्मक प्राण वेद नाम से पुरञ्जनात्मक आपः लोक नाम से तदात्मक वाक् देव नाम से तदात्मक अन्नाद भूत नाम से एवं तदात्मक अन्न पशु नाम से व्यवहृत हो जाते हैं । 'पुर' रूप सीमाभाव की अभिव्यक्ति के प्रवर्त्तक होने से ही इन पञ्च-पञ्चीकृत यौगिक भावों को 'पुरञ्जन' कहा गया है । दर्शनभाषा में इन्हीं को 'रेणुभूत' माना गया है ।

पुनः रेणुभूतात्मक वेद-लोक-देव-भूत-पशु-नामक प्राणात्मक अर्थात् सुसूक्ष्म पुरञ्जनों का पञ्चीकरण होता है । इस पञ्चीकरण से

ा यौगिकभाव उत्पन्न होते हैं उन्हें ही 'पुर' कहा जाता है। यहाँ आकर
ामात्मक अयवृत्त सम्पन्न होता है। यही सुमूक्ष्म अयवपुर 'पुर'नामक
ौगिक तत्त्व माना गया है, जिन इन पाँच पुरभावों के पारिभाषिक नाम
ापुरञ्जन से निष्पन्न प्राणात्मक प्रथम पुर परमाकाश नाम से, लोकपुर
ान से निष्पन्न अयात्मक द्वितीय पुर महासमुद्र नाम से, देवपुरञ्जन से
नष्पन्न यामात्मक तृतीय पुर सम्वत्सर नाम से भूतपुरञ्जन से निष्पन्न
ामात्मक चतुर्थ पुर 'आनन्द' नाम से एवं पशुपुरञ्जन से निष्पन्न
ामात्मक पञ्चम पुर 'नक्षत्र' नाम से प्रसिद्ध है। परमाकाश-महासमुद्र
ाक्षत्र-इन पाँच पुरभावों के बहुत्वनिबन्धन यौगिकभावों सम्वत्सर आनन्द
े अपेक्षा से ही 'बहुत्वमेव भूतम्' निर्वचन से इन्हें 'भूतम्' इस
ारिभाषिक नाम से व्यवहृत किया गया है जो कि विश्वस्वरूप की
पूर्वभूमिका मान ली गई है।

भूतात्मक परमाकाशादि पाँचों पुरभावों का पुनः पञ्चीकरण होता है।
स अन्तिम पञ्चीकरण से इन पुरभावों के द्वारा जो आत्यन्तिक
वपुर्भाव उत्पन्न होता है, वही सर्वान्त का 'महाभूत' नामक पदार्थ है
जेसके दर्शनभाषा में क्रमशः आकाश-वायु-तेज-जल-मृत् ये नाम
हैं। एवं पारिभाषिकी विज्ञानभाषा में वे पाँचों क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी
एवं-चन्द्रमा-भूपिण्ड-इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अवश्य ही ये पाँचों
पारस्परिकरूप से यौगिक हैं। अनेक मौलिकभावों से गुण-अणु रेणु-
भूत-भावों से सम्पन्न होने वाले अतएव निरतिशयरूप से बहुत्वभाव
निबन्धन इन यौगिक मरणशील स्थूल-भूत-पार्थिव भूतों को ऋषिप्रज्ञा ने
'महाभूत' नाम से व्यवहृत किया है। बहुत्व की आत्यन्तिकता ही इन
स्थूल भूतों की महत्ता है।

मूर्तिके द्वारा स्वरूपविश्लेषण हुआ है जोकि क्रमश: संघातता-कठिनता-
तता-उद्वर्त्तन तता-आदि भावानुबन्धिनी घनता से अनुमानित निविड़
द्रवभावानुबन्धी तरलावयव, एवं विरलभावानुबन्धी वाष्पावयव,
लोकनामों से प्रसिद्ध हैं। घनावयव, निविड़ावयव पदार्थ ही पृ
हैं तरलावयव-द्रवावयव पदार्थ ही वरुण हैं। एवं विरल
वाष्पावयव पदार्थ ही प्रव हैं। इन्हीं तीन अवस्थाभम्मों से
ही आङ्गिरसबल क्रमश: अग्नि -वायु आदित्य:, इन तीन अवस्था
में परिणत हो रहा है। एक ही भार्गवबल क्रमश: आप:-वायु-सो
इन तीन अवस्थाओं में परिणित हो रहा है। बलों का सम्बन्ध
ही इस असंख्य-अवस्था भेद का कारण बनता है, जिन असंख्य
सम्बन्धों का प्रधानरूप से अष्टादश (१८) बलसम्बन्धों में ही अन्त
मान लिया है वैज्ञानिक महर्षियों नें। ये १८ बलसम्बन्ध क्रमश:
प्रवर्त्तकसम्बन्ध, २—नैमित्तिकसम्बन्ध, ३—सांघातिकसम
४—सांस्कारिकसम्बन्ध, ५—उद्भूतसम्बन्ध, ६—प्रभवसम्बन्ध,
औत्पादिकसम्बन्ध, ८—आकृतिकसम्बन्ध, ९—पारिणामिकसम
१०—रसानुवृत्तिकसम्बन्ध, ११—सांयौगिकसमवायीसम्बन्ध, १
औपादानिकसम्बन्ध, १३—सांक्रामिकसम्बन्ध, १४—आकारि
सम्बन्ध, १५—प्रातिभासिकविवर्त्तसम्बन्ध, १६—माविकसम
१७—वैकल्पिकसम्बन्ध, १८—एन्द्रियकसम्बन्ध इन नामों से प्र
हैं। इन्हीं के अवान्तर विवर्त्त—अन्तर्य्याम बहिर्य्याम, उद्याम, य
याम, उद्ग्रु, संशर, ग्रन्थि, अभिवद्ध्विता, दहरोत्तर, वहुधा
कोश योग याग, ओतप्रोत, अन्तरान्तरीभाव—आदि आदि
नामों में परिणत हो रहे हैं। अलमतिविस्तरेण।

स्पष्ट है कि भारतीय ऋषिप्रज्ञा ने आत्मा-प्रज्ञा-देव-भूत इन चार तत्वों के माध्यम से क्रमशः आत्मज्ञान, प्रज्ञाविज्ञान, यज्ञविज्ञान, भूतविज्ञान, इन चार विवर्त्तों का विश्वस्वरूप से समन्वय किया है, जिस समन्वयात्मक का ही नाम मन्त्रब्राह्मणात्मक 'वेदशास्त्र' है। अतएव-'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' (मनु) के अनुसार वेदशास्त्र ज्ञान-विज्ञानात्मिका सम्पूर्ण विद्याओं का निरूपक शास्त्र मान लिया गया है। तत्त्वदृष्टि से इन चारों विवर्त्तों के समन्वय की चेष्टा की गई। अब दो शब्दों में लोक-दृष्टि से भी 'विज्ञान' का समन्वय कर लीजिए।

आज जिसे भूतविज्ञान कहा जाता है जोकि पदार्थविज्ञानात्मक मैटेरियल सॉयंस नाम से लोक में विश्रुत है, वह भारतीय विज्ञान की परिभाषा में विकारविज्ञान किंवा वैकारिक विज्ञान है जिसे-'प्रकृतिविज्ञान' नाम से व्यवहृत करना सर्वथा भ्रान्ति है। प्रकृतिविज्ञान तो वह यज्ञविज्ञान' है जो इस प्रत्यक्ष दृष्ट-भूत-उपवर्णित भौतिक वैकारिक-विज्ञान का आधार माना गया है। जबतक भूतविज्ञान प्रकृतिविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान के अनुरूप बना रहता है तबतक तो यह विश्वशान्ति का कारण प्रमाणित है। यदि यह भूतविज्ञान यज्ञविज्ञानात्मक प्रकृति विज्ञान की विपरीत दिशा का अनुगामी बन जाता है, तो यही भूतविज्ञान सर्वविनाश का कारण प्रमाणित हो जाता है। इस दृष्टि को लक्ष्य बना कर ही मानव का भूतविज्ञान में प्रवृत्त होना चाहिए। भूतविज्ञान स्वयं अपने रूप से विश्व का दिव्य वरदान है यदि वह प्रकृतिविज्ञान के अनुरूप है, तो। नहीं तो इससे बड़ा भयानक अभिशाप भी कोई दूसरा नहीं है। ऋषिदृष्टि ने इसी तथ्य के आधार पर भूतविज्ञान का व्यापार यज्ञविज्ञान को बनाया, यज्ञविज्ञान का प्रज्ञाविज्ञान से नियन्त्रित

किया एवं इन ब्रह्म-यज्ञ-भूत-तीनों विज्ञानों का आत्मसमर्पणपूर्व सर्वाधार आत्मदेवता में प्रतिष्ठित करते हुए वैषम्य-नानारूप-मत्यम को अमृतभाव में परिणत कर दिया जब कि आत्मा, ब्रह्म, यज्ञ, भू प्राणों से पराङ्मुख आज का भूतविज्ञान अमृतप्रतिष्ठा से सर्वथा वञ्चित रहता हुआ केवल एकपक्षपूर्वक ही प्रमाणित होता हुआ रा के स्थान में संहार का ही सन्देशवाहक बनता जारहा है।

पुन यह स्मरण कराया जारहा है कि, उक्त चारों विवर्त्त समष्टि रूप से मानव की अध्यात्मसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले 'आत्मा-बुद्धि मन-शरीर'— इन चार सत्ताओं के उपकारक बने हुए हैं। आत्म मानवीय आत्मा का ब्रह्मविज्ञान मानव के कारणशरीरात्मक बुद्धि का यज्ञविज्ञान मानव के सूक्ष्मशरीरात्मक मनःपर्व का एवं भूतवि मानव के स्थूलशरीरात्मक शरीरपर्व का उपकारक बना हुआ है। उनका चारों साधन क्रमशः प्रपत्तिलक्षणा संवित्, विज्ञानलक्षण ज्ञा उपासन, कर्म्म, इन नामों से व्यवहृत किए जासकते हैं। कर्म्म भूतविज्ञान मानव के शरीर को पुष्ट रखता है, उपासना के द्वारा यज्ञवि मानव के मन को तुष्ट रखता है, ज्ञान के द्वारा ब्रह्मविज्ञान मानव की बु को तृप्त, रखता है, एवं संवित् के द्वारा आत्मज्ञान मानव के आत्मा सुशान्त रखता है। मानव न केवल शरीर ही है, न मन ही है, न बु ही है। एवं न केवल आत्मा ही है। अपितु चारों के समन्वित रूप नाम ही 'मानव' है। इत्थंभूत मानव तभी सर्वात्मना अभ्युदय-निःश्रेय का पात्र बन सकता है, जबकि यह आत्मना शान्त रहे, बुद्ध्या तृप्त र मनसा तुष्ट रहे, एवं शरीरेण पुष्ट रहे। चारों में से कभी एक भी अव्यवस्थित है तो मानव कदापि सुखी-शान्त नहीं रह सकता।

धार पर ही भारतीय ऋषिप्रज्ञा ने मानव को चार पुरुषार्थों से समन्वित या है।

यह नवीन नहीं है, अपितु सब की जानी बूझी हुई। मोक्ष–धर्म्म-म अर्थ–चारों पुरुषार्थ प्रसिद्ध हैं। 'अर्थ' का शरीर से काम का न से, धर्म्म का बुद्धि से एवं मोक्ष का आत्मा से क्रमिक सम्बन्ध है। हाँ मानव इन चार पुरुषार्थों से समन्वित है, वहाँ मानवेतर समस्त णी केवल मन और शरीर से सम्बन्ध रखने वाले काम, एवं अर्थ न दो प्रकरणों पर ही विश्रान्त है। शरीर–मनोऽनुबन्धी आहार–निद्रा–य–आदि ही प्राकृत पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि की जीवनसत्ता के एक–ात्र इतिवृत्त हैं। यदि मानव अपने भूतविज्ञान के माध्यम से किंवा शेक्षा–व्यवसाय–शिल्प–कला–शासन–राजनीति–समाजनीति–साम्यवाद–जासमाजवाद–आदि आदि के माध्यम से अपने मनःशरीरमात्रानुबन्धी अमभोगमात्र की व्यवस्था कर लेना ही दूसरे शब्दों में योगक्षेमनिबन्धना आहार–विहारादि की (खान–पान की) चिन्ता निवृत्त कर लेना ही अपना परम पुरुषार्थ मानता है तो इस दृष्टिबिन्दु से तो मानव और पशु में कोई भी विभेद शेष नहीं रह जाता–'सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्'।

यदि मानव के जीवन का उद्देश्य केवल योगक्षेम ही है, तो मानव और पशु में वह ऐसी कौनसी मध्यरेखा है, जिसके आधार मानव अपने आपको पशु की अपेक्षा श्रेष्ठ मान रहा है? । क्या आज मानव इस वर्ग–भेद का भी उच्छेद कर देना चाहता है? । यह तो ठीक है। किन्तु किस दृष्टि से? समदर्शन की दृष्टि से जिसके आधार पर 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'–'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं, जिस इत्थंभूत आत्मसमदर्शनमूलक साम्यवाद का

'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' इस रूप से भारतीय आर्षप्रज्ञा ने भी समर्थन किया है। 'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि–न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' (महाभारत) इस उदात्तघोषणा का क्या खानपान की समस्या के समाधानमात्र पर ही विश्राम है ? । अलं व्यासेन ! कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ।

स्पष्टतम है कि आत्मानुगत मोक्ष तथा बुद्ध्यनुगत धर्म्म, ये दो ही वे विशेषताएँ हैं, जिन्होंने मानव को पशु की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रमाणित कर रक्खा है। इसी आधार पर–"तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" (उपनिषत्) इस रूप से ऋषि ने मनःशरीरसम्बन्धी मानव का ध्यान आत्मा और बुद्धि के प्रति आकर्षित किया है। संसिद्ध है कि, शरीरसंरक्षक वे ही अर्थ मानव के स्वरूपरक्षक माने जायँगे, जो इसके मनस्तन्त्रानुगत काममात्र को विचलित नहीं कर देंगे। मनःसंरक्षक वे ही कामभोग मानव के संरक्षक कहे जायँगे, जो इसके बुद्धितन्त्रानुगत धर्म्मभाव को विचलित नहीं करेंगे। एवमेव बुद्धि-संरक्षक वे ही धर्म्मभाव इसके स्वरूपसंरक्षक समुचित होंगे जोकि इसके मोक्षभाव को विचलित नहीं करेंगे। इसी आधार पर यह कह दिया जायगा कि यह भूतविज्ञान हेय है, जो शरीरमात्र को तो पुष्ट करता है। किन्तु जिससे मानवीय मन-बुद्धि-आत्मा तीनों क्रमशः क्लान्त-भ्रान्त-पथभ्रष्ट बन रहते हैं। एवमेव वह यज्ञविज्ञान भी तत्प्रमाणिता उपासना भी हेये पर्यायी ही कही जायगी, जिससे तात्कालिकरूप से मानसिक अनुरञ्जन तो सम्भव बनेगा, किन्तु जो न शारीरिक अर्थ की व्यवस्था कर सकती, न बौद्धिक धर्म्माचरण को प्रश्रय देती, एवं न जो आत्मिक अनुग्मन का ही समर्थन करती। तथैव वैसा तत्त्वदर्शनात्मक ब्रह्मविज्ञान भी अनुपयुक्त

ही माना जायगा जो अपने तत्त्वविजृम्भणों से बुद्धि को सुसंस्कृत बनाने की क्षमता रखता हुआ भी न तो शारीरिक व्यवस्था सुरक्षित रख सकेगा, न मनस्तुष्टि का संग्राहक बनेगा एवं न आत्मशान्ति का उद्बोधक बनेगा। तथैव वैसा आत्मज्ञान भी यहाँ कदापि सम्मानित नहीं होगा जो अपने लोकोत्तरकर्मभाव से कहने-सुनने मात्र के लिये और सम्भवतः वस्तुगत्या भी आत्मस्थिति का कारण बनता हुआ भी न तो शरीरानुबन्धी कर्म्म का ही समर्थन करेगा न मनोऽनुबन्धी तुष्टिभावों का ही समादर करेगा एवं न बुद्ध्यनुबन्धी धर्म्माचरण को ही लक्ष्य बनाएगा। ऐसा ही तो कुछ घटित विघटित हो रहा है आज हमारे राष्ट्र में। यदि कोई शरीरचिन्तातुर है, तो उसे मन-बुद्धि-आत्मा का ध्यान नहीं है। यदि कोई उपासना के द्वारा मनःसन्तोष में मग्न है तो उसे शरीर-बुद्धि-आत्मा का कोई ध्यान नहीं है। यदि कोई तत्त्वचिन्तनरूप बुद्धिवाद से मस्त है तो न उसे शरीरचिन्ता है, न मनोविनोद है, न आत्मानुगता श्रद्धा-आस्था है। और यदि कोई भीत रंग आत्मचिन्तन पथ का पथिक है, तो उसके बुद्धि-मन-शरीर तीनों पर्वों का उत्तरदायित्व के भार से राष्ट्र उत्पीड़ित हो रहा है। इसप्रकार भगवान् व्यास के 'तत् समन्वयात्' सिद्धान्त की उपेक्षा कर देने वाले आज के भारतीय मानव का न शरीर स्वस्थ है, न मन तुष्ट है, न बुद्धि तृप्त है, न आत्मा शान्त है। पापग्रावों में सब कुछ भार्त्त कर लिया है आजके राष्ट्रीय मानव ने। किन्तु आत्मा-ब्रह्म-यज्ञ-भूत-विज्ञानों की भारतीयसंस्थिता मौलिक परिभाषाओं से अपरिचित रहता हुआ वस्तुगत्या है यह चारों ही क्षेत्रों में केवल क्षणिक-क्षणिक, अतएव शून्य-शून्य अतएव दुःखं-दुःखं रूपा इस नास्तिमारा अनात्मभावना का ही लक्ष्य, जिन दृश्यभूत अनाप लक्ष्यों के भाव यहाँ

की आपमता को नित्य-नित्य, अतएव पूर्ण-पूर्ण, अतएव आनन्द-आनन्द। इस भावनात्रयी के माध्यम से सदा से प्रतिष्ठित ही चली आ रही है।

'प्रकृतिस्त्वविकृति कृतम्या' 'देवानसुविधा वै मनुष्याः' यही है यहाँ की आपनिष्ठा। जिसका तात्पर्य यही है कि पर्वविज्ञानसंस्था के आधार पर ही मानव को अपनी भूतविज्ञानसंस्थात्मिका अपरसंस्था का समन्वय करना चाहिए, यही इसकी यथोच्छिष्टानुगति मानी गई है, जिसका निष्कर्ष यही है कि, यह दृश्यप्रपञ्चात्मक भूतविज्ञानविवर्त प्राणात्मक अतएव अदृश्य यज्ञविज्ञान पर प्रतिष्ठित रहने वाला यज्ञीय प्रवर्ग्यरूप शेषांश है। 'उच्छिष्टाजज्ञिरे सर्वम्'—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इत्यादि मौल सिद्धान्त इसी विज्ञान का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। नीचे लिखे परिलेखों से भारतीय ज्ञानविज्ञानधाराओं का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है।

१-आत्मा ज्ञानमय आत्मज्ञानम् पुरुषज्ञानम् (अव्ययप्रधानम्)
२-ब्रह्म—विज्ञानमयम्; ब्रह्मविज्ञानम् प्रकृतिविज्ञानम् (अक्षरप्रधानम्)
३-यज्ञ—विज्ञानमयः; यज्ञविज्ञानम् प्रकृतिविकृतिविज्ञानम् (आत्मक्षरप्र॰)
४-भूतम्—विज्ञानमयम्; भूतविज्ञानम् विकारविज्ञानम् (विकारक्षरप्रधानम्)

१-पुरुषज्ञानांश——आत्मा-आत्मा——लोकातीत
२-प्रकृतिविज्ञानांश-बुद्धि—कारणशरीरम्—सौरम्
३-प्र वि विज्ञानांश-मन—सूक्ष्मशरीरम्—चान्द्रम्
४-विकारांश——शरीरम्-स्थूलशरीरम्—पार्थिवम्

(उपर्युक्त चारों पंक्तियाँ एक कोष्ठक द्वारा जुड़ी हैं:) स एष मानवः

आत्मना शान्तिमर्जयति मानवः (सैषा आत्मस्वरूपनिष्पत्तिः)
बुद्धया तुष्टिमर्जयति मानवः (सैषा कारणशरीरनिष्पत्तिः)
मनसा तृप्तिमर्जयति मानवः (सैषा सूक्ष्मशरीरनिष्पत्तिः)
शरीरेण पुष्टिमर्जयति मानवः (सैषा स्थूलशरीरनिष्पत्तिः)

शान्तात्मना मोक्षसाधनम् तत आत्मसंविशान्तिः	निःश्रेयससिद्धिः
तुष्टबुद्धया धर्मसाधनम् तत व्यवसायनिष्ठाप्ताप्तिः	
तृप्तमनसा कामसाधनम् तत स्थिवमनःशान्तिः	अभ्युदयसंसिद्धिः
पुष्टशरीरेण अर्थसाधनम् ततः लोकैषणाप्राप्तिः	

अपनी इत्थंभूता समन्वयबुद्धि से पराङ्मुख भारतीय मानव चारों ही ज्ञानविज्ञानधाराओं से पृथक् हो गया है। अतएव आज तो 'विज्ञान' समन्वय के लिये एकमात्र प्रतीच्य प्रज्ञा ही हमारे लिये आराध्या मानी जायगी। अतएव हम उन्हीं विज्ञानजागरूक प्रतीच्य विद्वानों से यह नम्र आवेदन करेंगे कि, 'विश्वमानवता' के अनुपथ से अनुग्रहात्मक कर्त्तव्य की भावना से अपने प्रक्रान्त विकृतिविज्ञानात्मक भौतिक विज्ञान के साथ साथ तन्मूलक प्रकृतिविज्ञान की ओर भी व अपना ध्यान आकर्षित करेंगे। एवं तद्द्वारा हम भ्रान्त भारतीयों को पथप्रदर्शन द्वारा हम मानवीय महान् कलत्रवासिस्वपदन पर भी अनुग्रह करेंगे। यही हम प्रणत भाव से आज उनसे याचना कर रहे हैं। हम उनसे उनका यह विकृतिविज्ञान

भूतविज्ञान भी इसकी दृष्टि से परोक्ष नहीं रहा है। अवश्य ही वे युगात्मक वेदयुग में विविध प्रकार के वैसे वैज्ञानिक आविष्कार भी हैं भारतराष्ट्र में जिनका यत्रतत्र स्वयं वेदशास्त्र में परोक्षदर्शन है।

हमारी इच्छा थी कि, 'भूतविज्ञान' से सम्बन्ध रखने वाले भौतिक आविष्कारों का वेदशास्त्र में साटोप स्पष्ट द्दश हुआ है, उनमें कुछ एक के निदर्शन भी प्रस्तुत वक्तव्य में समाविष्ट किए जाते। कि वक्तव्य आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो गया है। इसके अतिरि सर्वात्मना सम्पूर्ण विज्ञानपरम्पराओं को विस्मृत कर देने वाले आज भारतीय मानव के लिए ऐसे निदर्शनों का यशोगान करना केवल उपहास ही कराना है, जबकि आज 'विज्ञान' शब्द के उच्चारण का इसे अधिकार नहीं रह गया है। इन्हीं सब कारणों से यह निदर्श प्रसङ्ग अनावश्यक मान लिया गया है। 'वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्व' नामक स्वतन्त्र संस्कृतवक्तव्य में इन निदर्शनों के कतिपय संस्मर संगृहीत हैं। जिनका मुख्य उद्देश्य एकमात्र यही है कि, आज के भारतं विद्वान् अपनी वर्त्तमान दर्शनभक्ति का परित्याग कर वेदशास्त्रादि विज्ञानोपासना में जागरूक बनें तद्द्वारा अपने विलुप्त विज्ञानगौरव प्रतीच्य विज्ञान के साहाय्य से पुनः प्रतिष्ठित करें। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण का विज्ञानभाष्य राष्ट्रभाषा हिन्दी में उनके सम्मुख उपस्थित प्रस्तुत हुआ है जिसमें प्रधानरूप से भारतीय वैज्ञानिक परिभाषाओं समन्वय की ही चेष्टा हुई है। वर्त्तमान भूतविज्ञान के व्यामोहन से सव असंस्पृष्ट रहते हुए केवल भारतीय यज्ञविज्ञान तथा तन्मूलक ब्रह्मविज्ञ की परिभाषाओं का यथाशक्य स्पष्टीकरण करने का प्रयास करना ही इस यत्रतत्र उद्धृत 'विज्ञान' शब्द का समन्वयार्थ है। ब्रह्मविज्ञान के साथ

स्र प्रतिष्ठित यज्ञविज्ञान ही भारतीय विज्ञान शब्द की मौलिक अवसक्रति है, जिसके द्वारा भूतविज्ञान के समन्वय का भी उपक्रम सम्भव है। और इसके लिए प्राच्य-प्रतीच्य विज्ञानों का समयनिष्ठ मेधावी वैज्ञानिकों के द्वारा समन्वय अपेक्षित है। अवश्य ही इस समन्वय से विश्वमानव विज्ञान के उस सिद्धान्तबिन्दु को अवश्य बनाने में समर्थ बन सकेगा, जिस समन्वयबिन्दु को प्रतिष्ठा बनाने के अनन्तर वही विज्ञान विश्वशान्ति तथा लोकवैभव, दोनों महान् फलों का सर्जक प्रमाणित हो सकता है।

भारतीय 'विज्ञान' शब्द के समन्वय से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्तुत वक्तव्य के आधार पर अब सर्वान्त में एक विशेष आर्ष-मान्य-दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण कर लेना है। निवेदन किया गया है कि, भारतीय ज्ञान-विज्ञान-धाराएँ क्रमशः आत्मज्ञान, ब्रह्मविज्ञान, यज्ञविज्ञान, तथा भूतविज्ञान इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ये चारों ज्ञान-विज्ञान-धाराएँ क्रमशः मानव के प्रकृति-विकृति-भावों से सर्वथा अतीत अव्ययपुरुष-निबन्धन आत्मतन्त्र से 'पराप्रकृति' नामक 'मूलप्रकृति रूप अक्षर-निबन्धन बुद्धितन्त्र से प्रकृतिविकृति' नामक 'तूलप्रकृति रूप आत्मक्षर निबन्धन मनस्तन्त्र से एवं 'विकृति' नामक विकारजगद्रूप विकारक्षर-निबन्धन शरीरतन्त्र से, क्रमशः समन्वित है जिस इस समन्वय से हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, मानव का आत्मा अव्ययज्ञान से उपकृत है, मानव की बुद्धि अक्षरविज्ञान से मानव का मन क्षरविज्ञान से तथा मानव का शरीर विकारविज्ञान से उपकृत है।

'आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर, ये चारों मानवीय पर्व विश्वेश्वर के अव्ययज्ञान-अक्षरविज्ञान-क्षरविज्ञान-विकारविज्ञान से उपकृत हैं'

भूतविज्ञान भी इसकी दृष्टि से परोक्ष नहीं रहा है। अवश्य ही वेद युगात्मक वेदयुग में विविध प्रकार के ऐसे वैज्ञानिक आविष्कार भी हुए हैं भारतराष्ट्र में जिनका फलतन्त्र स्वयं वेदशास्त्र में यशोवर्णन है।

हमारी इच्छा थी कि, 'भूतविज्ञान' से सम्बन्ध रखने वाले कि मौलिक आविष्कारों का वेदशास्त्र में साटोप उपबृंहण हुआ है, उनमें से कुछ एक के निदर्शन भी प्रस्तुत वक्तव्य में समाविष्ट किए जाते। किन्तु वक्तव्य आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो गया है। इसके अतिरिक्त सर्वात्मना सम्पूर्ण विज्ञानपरम्पराओं को विस्मृत कर देने वाले आज के भारतीय मानव के लिए ऐसे निदर्शनों का यशोगान करना केवल अपना उपहास ही कराना है, जबकि आज 'विज्ञान' शब्द के उच्चारण का भी इसे अधिकार नहीं रह गया है। इन्हीं सब कारणों से यह निदर्शन प्रसङ्ग अनावश्यक मान लिया गया है। 'वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्' नामक स्वतन्त्र संस्कृतवक्तव्य में इन निदर्शनों के कतिपय संस्मरण संगृहीत हैं। जिनका मुख्य उद्देश्य एकमात्र यही है कि आज के भारतीय विद्वान् अपनी वर्तमान परानुभक्ति का परित्याग कर वेदशास्त्रसिद्ध विज्ञानोपासना में जागरूक बनें तद्द्वारा अपने विलुप्त विज्ञानगौरव को प्रतीच्य विज्ञान के साहाय्य से पुनः प्रतिष्ठित करें। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण का विज्ञानभाष्य राष्ट्रभाषा हिन्दी में उनके सम्मुख प्रकटभाव से प्रस्तुत हुआ है जिसमें प्रधानरूप से भारतीय वैज्ञानिक परिभाषाओं के समन्वय की ही चेष्टा हुई है। वर्तमान भूतविज्ञान के व्यामोहन से सर्वथा असंस्पृष्ट रहते हुए केवल भारतीय यज्ञविज्ञान तथा तन्मूलक ब्रह्मविज्ञान की परिभाषाओं का यथाशक्य स्पष्टीकरण करने का प्रयास करना ही हमारे अन्यत्र उक्त 'विज्ञान' शब्द का समन्वयार्थ है। [illegible]

क्या तात्पर्य हुआ इस वाक्य का ? । व्यवहार दृष्टि से, किंवा उपयोगिता की दृष्टि से क्या समझें, और क्या करें इन ज्ञान-विज्ञानधाराओं के समन्वय से ? । क्या भारतीय प्रज्ञा भी 'विज्ञान' के तृतीय सत्यात्मक 'भूतविज्ञान' को आधार बना कर वर्त्तमान भौतिक विज्ञान की ही भांति कुछ एक ऐसे भूत-भौतिक आविष्कार करने लग पड़, जिनसे भारतीय लौकिक व्यवहार सर्वथा सुगम बन जाया करते हैं । एवं जिन सुखसुविधा अनुकूलताप्रवर्त्तक भौतिक आविष्कारों से मानव अत्यधिक श्रम परिश्रमों के संघर्ष से अपना परित्राण कर लेता है । सर्वथा सुविधात्मक ऐसे भौतिक आविष्कारों का सर्जन कर इनके माध्यम से श्रम-परिश्रमात्मक संघर्षजीवन को जलाञ्जलि समर्पित करते हुए अनुकूलता-सुख-सुविधापूर्वक अपने स्थूलशरीर को कुसुमसदृश बनाये रखना, ऐसे संघर्षशून्य शरीर को केवल आहार-निद्रा-काम-भोग-परायण बनाये रखना ही यदि भौतिक विज्ञान के नूतन आविष्कारों का एकमात्र महान् लक्ष्य है तो प्रणाम है विदूर से ही ऐसे भूताविष्कार एवं नमस्य है दूर से ही इसप्रकार के शारीरिक काम-भोग समर्थकमात्र भौतिक विज्ञानों के अमानवीय, किंवा दानवीय किंवा तो पराक्रम विजृम्भण ।

तात्कालिकी प्रत्यक्ष दृष्टि से अवश्य ही कामोपभोग अनुकूलताप्रवर्त्तक इन भूतविज्ञानों तथा तदनुबन्धी भौतिक आविष्कारों का महत्ती महीयान् ही उपयोग प्रतीत होरहा है । सम्भवतः इसी तात्कालिक आकर्षण के अनुग्रह से ही आज ज्ञानविज्ञाननिष्ठ भारतीय आर्यप्रजा भी इसी उपयोगितावाद के तात्कालिक व्यामोह से व्यामुग्ध बनती हुई अपने ज्ञानविज्ञान सिद्ध शास्त्रीय विधिविधानों के प्रति - 'क्यों ऐसे करें ? क्या उपयोग है इनका ?, क्या उपयोगिता है आजत्तरपु

विज्ञानशून्य इन शास्त्रीय विधि-विधानों की ?" इसप्रकार के अनेक तर्कशस्त्रों का सृजन करती हुई वर्त्तमान प्रत्यक्ष भूतविज्ञानात्मक प्रमाद के पथ का ही प्रबलवेग से अनुधावन करती आरही है, मानों इसके अपने शास्त्रीय विधि-विधानों का 'सत्यविज्ञान' से कोई सम्बन्ध ही न हो। किन्तु स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष में महान् भी उपयोगी प्रतीत होते रहने वाले भौतिक आविष्कार ज्ञानप्रतिष्ठालक्षणा आत्मप्रतिष्ठा से वञ्चित रहते हुए केवल मानव के मनःशरीरनिबन्धन काम-भोगों के ही प्रवर्त्तक बन हुए हैं। इन से न लोकसंग्रह सुरक्षित, न लोककामना ही पुष्पित-पल्लवित। अपितु लोकविनाश, तथा तन्मूला यह लोकैषणा जिनके द्वारा साम्राज्यलिप्सा-शासनलिप्सा-भोगलालसा-ही प्रतिक्षण प्रवृद्ध बनती रहती है ही दुर्धर्ष बनती रहती है, बन रही है आत्म-प्रतिष्ठाविहीन अतएव आत्ममूलक समदर्शन से पराङ्मुख इन भौतिक वैज्ञानिक महारम्भों के प्रमत्त-ताण्डवनृत्यों से।

महत्सौभाग्य है आज भारतराष्ट्र का कि वह भी पुनः इसी तथ्य की ओर आकर्षित होता जा रहा है। वह भी यह अनुभव करने लगा है कि, सत्य-अहिंसा-तप-दम-शम-आदि मूलक मानवीय आत्मधर्मों से ही मानव 'विश्वशान्ति' के सुलक्षणों का यथार्थ प्रमाणित कर सकता है। समदर्शनमूलक यह अभिनव भाव इसप्रकार अनुदिन अपनी भावनाओं में समन्वय करता चला भारत राष्ट्र अवश्य ही निकट भविष्य में ही अपने राष्ट्र की ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा आचारपरिनिधि के अन्वेषण में प्रवृत्त होगा ही यह आशा की जासकती है। किन्तु ?

सर्वविनाशक इस 'किन्तु' के मुख-म्लान इतिहास की रूपरेखा के सम्बन्ध में यह अवश्य ही निवेदन कर दिया जायगा कि, केवल गतानु-

क्या तात्पर्य्य हुआ इस वाक्य सन्दर्भ का ? । व्यवहार दृष्टि से, किं
उपयोगिता की दृष्टि से क्या समझें, और क्या करें इन ज्ञान-विज्ञानधाराओं
के समन्वय से ? । क्या भारतीय प्रज्ञा भी 'विज्ञान' के तृतीय संस्करण
'भूतविज्ञान' को आधार बना कर वर्त्तमान भौतिक विज्ञान की ही भाँति
कुछ एक वैसे भूत-भौतिक आविष्कार करने लग पड़े, जिनसे मानवीय
लौकिक व्यवहार सर्वथा सुगम बन जाया करते हैं । एवं जिन इन्द्रियसु
अनुकूलताप्रवर्त्तक भौतिक आविष्कारों से मानव अत्यधिक श्रम परिश्रम
के संघर्ष से अपना परित्राण कर लेता है । सर्वथा शुभभाजनक ऐसे
भौतिक आविष्कारों का सर्जन कर इनके माध्यम से श्रम-परिश्रमात्मक
संघर्षजीवन को अत्यन्तशः समर्पित करते हुए अनुकूलता-सुख-सुविधा
पूर्वक अपने स्थूलशरीर को कुसुमसदृश बनाये रखना ऐसे संघर्षपूर्ण
शरीर को केवल आहार-निद्रा-काम-भोग-परायण बनाये रखना ही
यदि भौतिक विज्ञान के नूतन आविष्कारों का एकमात्र महान् पक्ष है
तो प्रणम्य है विदूर से ही ऐसे भूताविष्कार एवं नमस्य है दूर से ही
इसप्रकार के शारीरिक श्रम-भोग समर्थकमात्र भौतिक विज्ञानों को
अमानवीय, किंवा दानवीय, किंवा तो पराम्य विजृम्भण ।

तात्कालिकी प्रत्यक्ष दृष्टि से अवश्य ही कामोपभोग-अनुकूलता
प्रवर्त्तक इन भूतविज्ञानों तथा तदनुबन्धी भौतिक आविष्कारों का महत्वो
महीयान् ही उपयोग प्रतीत होरहा है । सम्भवतः इसी तात्कालिक
आकर्षण के अनुग्रह से ही आज ज्ञानविज्ञाननिष्ठ भारतीय आर्षप्रज्ञा
भी इसी उपयोगितावाद के तात्कालिक व्यामोह से व्यामुग्ध बनती हुई
अपने ज्ञानविज्ञान सिद्ध शास्त्रीय विधिविधानों के प्रति – 'क्यों ऐसा
करें ? क्या उपयोग है इसका ? क्या उपयोगिता है आडम्बरपूर्ण

विजृम्भण के कारण ही अनेक शताब्दियों से हम अपने मौलिक स्वरूप बोध से वञ्चित होते आ रहे हैं। अतएव अत्यन्त सावधानी से जागरूक बन कर स्थिरप्रज्ञ बन कर ही हमें आत्मा–बुद्धि–मन–शरीर–समन्वयात्मिका उस जीवनपद्धति को ही खोज निकाल लेना है, जिसके मूलसूत्र इस भारतराष्ट्र के सर्वाविभूत निर्भ्रान्त–सम्प्रदायवाद से असंस्पृष्ट–ज्ञान–विज्ञानसिद्ध आगमात्मकशास्त्र में ही सुगुप्त हैं, और दुर्भाग्यवश वही सर्वभूतमय आगमात्मकशास्त्र राष्ट्र की प्रजा से आज भी तिरोहित ही बना हुआ है। राष्ट्रीय प्रजा अपनी इस आत्मनिधि का स्वरूपबोध प्राप्त करे, तन्माध्यम से विलुप्तप्राय ज्ञान–विज्ञान–परिभाषाओं के अन्वेषण में प्रवृत्त हो तद्द्वारा मानव की आत्मा–बुद्धि–मन–शरीर–मूला जीवनपद्धति को सुव्यवस्थित प्रमाणित करे, यही मानवाश्रम विद्यापीठ के प्रस्तुत ज्ञान–सत्र से अनुप्राणित 'विज्ञान' शब्द का भारतीय दृष्टिकोण से किञ्चित् स्वरूप समन्वयविधृत है।

माननीय शरणजी !

परिसम्वादात्मक के ज्ञानसत्र में आपने भारतीय 'विज्ञान' शब्द के माध्यम से जो प्रश्नोत्तरविमर्श प्रारम्भ किया तत्सम्बन्ध में यथामति अपने विचार व्यक्त किए गए। हमारी ऐसी आस्था है कि, इस विमर्श से 'विज्ञान शब्दानुबन्धिनी उन विप्रतिपत्तियों का सर्वात्मना नहीं तो अंशतः अवश्य ही निराकरण हो जायगा, जिनके कारण प्रकाशित–अप्रकाशित साहित्य में यत्रतत्र उपात्त 'विज्ञान' शब्द से अनेक प्रकार के ऊहापोह सम्भावित हैं।

अवसान में हम आपके प्रति यही सहज कामना अभिव्यक्त करने की धृष्टता धारण कर रहे हैं कि जिन भारतीय विज्ञानों के अभीप्सित विज्ञान

गतिकता से कदापि ऐसी भाषाएँ कार्यरूप में परिणत नहीं हो जाया करतीं। केवल सत्य–अहिंसा–पञ्चशील–सहास्तित्व–आदि शब्दों के पारायणपाठ से ही ज्ञानविज्ञानात्मक सत्य कदापि परिगृहीत नहीं हो जाया करता तबतक, जबतक कि इन शब्दों के चिरन्तन मौलिक इतिहास को अपने क्रोड में प्रतिष्ठित रखने वाले भारतराष्ट्र के सर्वज्ञानविज्ञान कोशात्मक वेदशास्त्र की भास्मानुगता ब्रह्म–यज्ञ–भूत–भेदभिन्ना विज्ञानधारात्रयी का आश्रय नहीं ले लिया जाता। और कहना पड़ेगा कि आत्यन्तिक रूप से कालपालीकृता विगत २–३ सहस्रवर्षों की अवधि में मानव के उद्बोधक जितनें भी मतवाद इस राष्ट्र में आविर्भूत हुए, उनमें से कतिपय वेदशास्त्र की तथाकथिता विज्ञानधारात्रयी से पराङ्मुख रह इसे न समझने के कारण एवं कितनें एक शरीरात्मवादी लोकायतिक इस प्राजापत्यनिधि के स्वरूप सम्पर्क से ही पृथक् बने रह गए। अपरिचित रह जाने वाले वेदभक्तों नें केवल ज्ञान की घोषणा की तो सर्वथैव पृथक् रह जाने वाले लोकायतिकोंनें अपनी मान्यताओं के अनुसार सत्य-अहिंसादि की कल्पित व्याख्याओं से भावुक जनता को व्यामुग्ध कर लिया। इन्हीं दो प्रधान मतवादों के अनुग्रह से कालान्तर वैसे अनेक मतवाद आविर्भूत हो पड़े विगत अवधि में इस राष्ट्रप्राङ्गण में, जिससे राष्ट्र की समन्वयमूला ज्ञानविज्ञानात्मिका आर्षचिरन्तनपद्धति के अभिभव के साथ साथ मतवादमूला भावसंहिता का ही साम्राज्य अनुरूप जागरूक बन गया। कहीं हम आज इस जागरण की पावनवेला में परप्रत्ययनेयमूला-प्रत्यक्षप्रमाणोत्पादिका-उसी भावुकतामात्र में आविष्ट होकर उन कल्पित सत्य–अहिंसा–आदि भावों का अनुगमन करते हुये पुनः किसी मतवाद विशेष के ही पिजरन्याय के पथिक न बन बैठे, जिस इत्थंभूत कल्पित

का स्वाध्याय किया है, उन्हें अपने देश के इस वैदिक-'विज्ञान' की रूपरेखा से अवगत कराने के लिए यह आवश्यक होगा कि, बोधगम्या राष्ट्रभाषा के माध्यम से ही इस दृष्टि का प्रचार किया जाय, जिस राष्ट्रभाषा के अक्षरज्ञान से भी हम वञ्चि आप जैसे समन्वयसंस्कृतिनिष्ठ विद्वान् ही इस उत्तरदायित्व का व वहन करने की क्षमता रखते हैं।

इति-दुरितनिराम श्रीविधिकान्ताभिराम-
सुमनहृदयराम कोऽप्यभूपस्य रामः।
भक्तमनुसराम पापपार्श्वं तराम-
सुकृतमपि भरामस्तस्य नाम स्मरामः॥

मानवाश्रमविद्यापीठ
दुर्गापुरा (जयपुर)

मार्गशीर्ष शुक्ल-दशमी वि सं २ ११